वैदिक-अध्यात्म-विद्या

(बलासुर वध)

लेखक—
भगवद्दत्त वेदालङ्कार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार ।

प्रकाशक—
अनुसन्धान विभाग,
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी
हरिद्वार (सहारनपुर)

प्रथम संस्करण—१००
सम्वत् २००७

मुद्रक—
पं० हरिवंश वेदालंकार
गुरुकुल मुद्रणालय
गुरुकुल कांगड़ी

विषय-सूची

—:o:—

प्राक्कथन

यह पुस्तक गुरुकुल कांगड़ी के वैदिक अनुसाधन विभाग की तरफ से प्रकाशित हुई है। पुस्तक को हमने दो विभागों में विभक्त किया है। एक विभाग में वेद मन्त्रों के आधार पर विचार है और दूसरे विभाग में ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर विचार हुआ है। वेदों में 'वल' नाम से एक शब्द आता है। जिसको ब्राह्मण ग्रन्थों में असुर बताया गया है। यह वलासुर देवताओं की गौओं को उनसे छीनकर अन्धेरी गुफा में छिपा देता है। इस वलासुर का विनाश कर गौओं को उससे छीनना है संक्षेप में इसका भाव यह है कि मनुष्य के अन्दर प्रच्छन्न रूप से विद्यमान तथा वासना आदि से आच्छादित दिव्य प्रकाश व दिव्य शक्तियों को प्रकाश में लाने का यह एक आलंकारिक वर्णन है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह सब एक कथानक के रूप में दिया है। वेद मन्त्रों की वर्णन शैली भी इसी प्रकार की है

कि आसानी से कथानक बनाया जा सकता है। महान् योगी श्री अरविन्द ने अपनी 'वेद रहस्य' पुस्तक में अन्धकार के प्रतिनिधि इन वल आदि आसुरी शक्तियों पर विचार किया है। बीज रूप में उसी भाव को लेकर हमने अपनी सामान्य बुद्धि से पुष्पित व पल्लवित करने का प्रयत्न किया है।

इस पुस्तक के वेद विभाग में जो विचार हुआ है वह मुख्यतया ऋग्वेद के १० म मण्डल के ६७,६८ सूक्तों के आधार पर है। ये सूक्त बृहस्पति देवता के हैं। कुछ फुटकर मन्त्र भी हैं जो कि इन्द्र देवता से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि पुस्तक का 'वेद विभाग' दो सूक्तों की व्याख्या है। मन्त्रों के अर्थ हमने नहीं दिये हैं क्योंकि इससे पुस्तक का आकार बहुत बढ़ जाता।

अध्यात्म सम्बन्धी जो बातें वेदों के आधार पर हमने लिखी हैं वे पूर्ण प्रमाणिक व सही हैं ऐसा दावा तो हम नहीं कर सकते। बस! इतना कह सकते हैं कि ऐसा बुद्धि में आया। पुस्तक में ऐसे साधनों की ओर भी संकेत है जो कि साधारण मनुष्यों के जीवनों में भी कभी न कभी अवश्य घटित हुए हैं। कई बार साधारण मनुष्य भी बड़े से बड़े पतन व प्रलोभन से बच जाता है। पर वह इस पर विचार नहीं करता कि क्यों ऐसा होगया? परन्तु जो मनुष्य इस पर गम्भीरता से विचार करता है। अन्दरुनी

प्रक्रियाओं व परिवर्तनों का विश्लेषण करता है और उसकी तह में पहुंचने का प्रयत्न करता है। वह जान सकता है कि वासना व प्रलोभन को विनाश करने का सही तरीका क्या है? कई मनुष्यों की बुद्धि में अध्यात्म सम्बन्धी ऊंचे विचार आ सकते हैं, पूर्ण रूप से स्पष्ट न सही पर घुलेमिले व धुंधले रूप में ही सही। मन चाहता भी है कि जीवन में इनको धारण किया जाये परन्तु कमी यह रहती है कि प्राणादि निम्न शक्तियां अपने अभ्यस्त मार्ग पर ही चलना पसन्द करती हैं। श्री अरविन्द ने भी अपने योगप्रदीप में ऐसा ही संकेत किया है।

इस लिये जो मनुष्य वलादि आसुरी शक्तियों को विनाश करने का प्रयत्न करेगा वह देवताओं की गौओं अर्थात् ऐन्द्रियिक दिव्य प्रकाश की किरणों को अवश्य पालेगा।

दूसरे विभाग ब्राह्मण ग्रन्थ में भी इस वलासुर के विनाश के लिये नानाविध उपाय बताये हैं। ये सब उपाय ब्राह्मण ग्रन्थ की अपनी परिभाषाओं में हैं। हमने उन परिभाषाओं को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यदि परिभाषाओं आदि का यह स्पष्टीकरण वेद के उच्च कोटि के विद्वानों को पूर्ण सन्तुष्ट न कर सके तो यह उस दिशा में ऊहापोह करने के लिये तो अवश्य प्रेरित कर सकता है। अन्त में हमारी सबके सर्जनहार उस परम पिता परमात्मा से विनम्र प्रार्थना है कि वह हमारी बुद्धियों में दिव्य प्रकाश देवे।

प्रथम अध्याय

आत्म-ज्योति

मनुष्य को हम दो भागों में बांट सकते हैं। एक भाग आत्मा और दूसरा भाग प्रकृति (आत्मा + प्रकृति=पुरुष)। मनुष्य में आत्मा को छोड़ कर स्थूल शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि जो घटक हैं; ये सब प्राकृतिक हैं अर्थात् प्रकृति से बने हैं। आत्मा एक ज्योति है। इस आत्म-ज्योति का सम्पर्क करके ये इन्द्रियां आदि प्राकृतिक तत्त्व ज्योतिष्मान् हो जाते हैं। इनमें अपनी ज्योति तो होती नहीं, इसलिए ये आत्म-ज्योति को ही प्रतिबिम्बित करते हैं। इसको हम लैम्प के उदाहरण से अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। जिस प्रकार लैम्प में चिमनी चढ़ी होती है। और जिस रंग की वह होती है, उसी रंग का प्रकाश बाहिर फैंकती है। और फिर वह चिमनी जितनी अधिक धुंधली होती है, उतना ही कम प्रकाश उससे होता है। इसी प्रकार मनुष्य के शरीर में

विद्यमान इन्द्रियां, मन व बुद्धि आदि आत्म-ज्योति के लिये चिमनी के समान हैं। ये इन्द्रियां आदि जिस रंग में रंगी होती हैं, मनुष्य के अन्दर से वैसा ही प्रकाश बाहिर प्रतिक्षिप्त होता है। और वह संसार को उसी रंग में रंगा हुआ देखता है। और ये इन्द्रियां आदि चिमनियां जितनी ज्यादः धुंधली होती हैं, उतना ही कम संसार उनके लिए प्रकाशित होता है। और फिर लैम्प में तो एक ही चिमनी होती है, परन्तु इस आत्म-ज्योति के चारों ओर तो तीन चिमनियां चढी हुई हैं, जिनमें से होती हुई आत्म-ज्योति बहुत ही धुंधले तथा परिवर्तित रूप में बाहिर आती है। आत्म-ज्योति के चारों ओर ये तीन चिमनियां इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि हैं। सबसे बाहिर इन्द्रियां, फिर मन और फिर बुद्धि। श्रीमद्भगवद्-गीता ३ अ० ४२ श्लोक में भी कहा है कि—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धि र्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

अर्थात् इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि और फिर बुद्धि से परे वह आत्म-ज्योति है।

इस प्रकार आत्मा की ज्योति को बाहिर फैंकने वाली ये तीन चिमनियां हैं जो कि एक दूसरे से धुंधली होती हुई चली गई हैं। बुद्धि से मन ज्यादः धुंधला है और मन से

इन्द्रियां ज्यादः धुंधली हैं। इस प्रकार आत्म-ज्योति इनमें छनती हुई बहुत स्वल्प मात्रा में तथा परिवर्तित रूप में बाहिर आती है और संसार को प्रकाशित करती है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपनी चिमनी के आधार पर संसार को विभिन्न दृष्टि-कोणों से देखा करता है। और संसार का वैसा ही ज्ञान उसे होता है। संसार का साधारण ज्ञान सब मनुष्यों को होता ही है। परन्तु वैदिक शास्त्र यह कहते हैं कि, इन इन्द्रियों आदि की शक्ति को इतना बढ़ाया जा सकता है कि, मनुष्य इनके द्वारा दिव्य ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है। उदाहरण के तौर पर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य दीवार से परे की वस्तु अर्थात् ओझल वस्तु को नहीं देख सकता। परन्तु वैदिक शास्त्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस मनुष्य को दिव्य-चक्षु प्राप्त हो जाते हैं, उसे ओझल वस्तु व दीवार से परे की वस्तु को देखने के लिए दूरी व दीवार कोई बाधा नहीं रहती। वह दीवार से परे की वस्तु को प्रत्यक्ष सामने पड़ी हुई के समान देख लेता है। इसी प्रकार वेद व अध्यात्म सम्बन्धी ग्रन्थों में सभी इन्द्रियों व मन आदि के सम्बन्ध में अनेकों दिव्य शक्तियों का वर्णन मिलता है। परन्तु साथ में यह भी समझ लेना चाहिये कि ये दिव्य शक्तियां इन्द्रियों की अपनी नहीं है, ये तो आत्मा की ही अपनी विभूति है। मुण्डकोपनिषत् के आधार पर (यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा) प्राण व इन्द्रियों के विशुद्ध होने पर

आत्म शक्ति ही विभूति को प्राप्त होती है, ये इन्द्रियां तो आत्मा की विभूति को प्रतिक्षिप्त करने वाली हैं। और ये किन्हीं विरले आदमियों को प्राप्त होती हैं, सब को नहीं। अब प्रश्न यह है कि यदि यह सब सत्य है तो इस पृथ्वी पर जितने भी मनुष्य हैं, सभी में इन्द्रियां. मन व बुद्धि आदि अवयव विद्यमान हैं तो फिर किन्हीं विरले आदमियों को ये दिव्य शक्तियां क्यों प्राप्त होती हैं ? सबको क्यों नहीं प्राप्त होती ? इस सम्बन्ध में वेदादि शास्त्र यह कहते हैं कि आत्म ज्योति को प्रतिक्षिप्त करने वाली, मन बुद्धि आदि चिमनियां तो सभी मनुष्यों में है; परन्तु साधारण मनुष्यों में ये चिमनियां ज्याद: धुधली होती हैं। इन पर बहुत मैल जमा होता है। इसी कारण इनकी शक्तियां इतनी क्षीण होती हैं कि संसार का साधारण ज्ञान भी इन्हें कठिनाई से होता है। योगी व आध्यात्मिक पुरुष अपनी इन चिमनियों को साफ कर देते हैं और जो मैल व आवरण उन पर पड़ा होता है, उसे हटा देते हैं। और फिर इनकी शक्तियों को इतना बढ़ाते हैं कि, जिससे इनकी ज्योतियां सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैल कर सब पदार्थों को प्रत्यक्ष के समान प्रकाशित कर देती हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिये कि इन साफ सुथरी चिमनियों द्वारा भी बाह्य संसार ही प्रत्यक्ष हो सकता है, आत्मा व परमात्मा नहीं। क्योंकि ये इन्द्रियां आदि प्रकृति से बनी हैं। इस लिये प्राकृतिक जगत्

का ही इनके द्वारा साक्षात्कार हो सकता है।

अब विचारणीय यह है कि हमारी इन्द्रियां आदि दिव्य शक्ति सम्पन्न हो जायें, इसका उपाय क्या है? इस सम्बन्ध में दो बातें कही जा सकती हैं।

१. इन्द्रियां व मन आदि को शुद्ध बनाया जाये। उन पर जो मैल व आवरण पड़ा हुआ है, उसे हटाया जाये।

२. इनकी शक्ति को खूब बढ़ाया जाये।

अब हम संक्षेप में इन पर विचार करते हैं।

मल-शोधक व ज्योतिः-वर्धक सत्व गुणः---

यह सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति से बनी है। और यह प्रकृति भी त्रिगुणात्मिका है। वे त्रिगुण सत्व, रज और तम नाम से कहे गये हैं। इनके सम्बन्ध में सांख्यदर्शन में आता है कि—

"सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति."

अर्थात् सत्व, रज और तम नामक गुणों की जो सम अवस्था है, वह प्रकृति कहलाती है। जब तक कि ये गुण सम अवस्था में रहते हैं, तब तक तो सृष्टि नहीं बनती। परन्तु जब इनमें विषमता पैदा हो जाती है, तब सृष्टि का निर्माण शुरू हो जाता है। सृष्टि में कहीं सत्व प्रबल है। कहीं रज बलवान् है। और कहीं तम बलशाली है। इस प्रकार सृष्टि में सर्वत्र

इन तीनों के बलाबल म विभिन्नता पायी जाती है। सत्व गुण ज्योति व प्रकाश का सुवाहक (Conductor) है। रजोगुण ज्योति को तरह २ के रंगों में रंग देता है। और तमोगुण ज्योति व प्रकाश को रोक देता है। इस तरह से इन तीनों गुणों का विविध २ प्रकार का मेल, विविध २ प्रकार के परिणामों को पैदा करता रहता है। इन्हीं तीनों से सारे संसार का निर्माण हुआ है। हमारा शरीर भी इन्हीं तीनों के मेल का परिणाम है। जिन मनुष्यों में सत्व गुण ज्याद: है वे सात्विक पुरुष कहलाते हैं। जिन में रजोगुण ज्याद: है, वे रजो गुणी होते हैं। और जिन में तमोगुण ज्याद: है, वे तामसिक होते हैं। हमारे शरीर में मन, बुद्धि आदि प्रत्येक अंग भी इन्हीं के घट बढ़ मेल व आवरण का परिणाम है। इन सत्व, रज, तम का शरीर में सन्तुलन प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। क्योंकि शरीर में निर्माण व विनाश प्रक्रिया हर समय हो रही है। इसलिये प्रश्न यह है कि दिव्य शक्ति प्राप्त करने के लिये हमें सत्व, रज, और तम में से किसको बढ़ाना चाहिये ? इन तीनों में तम[1] तो स्पष्ट रूप से दिव्य शक्तियों को घेरने वाला है। इससे प्रमाद मोह और आलस्य ही बढ़ते

---

१. अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥

श्रीमद्भगवद्गीता १४ अ० श्लोक १३

हैं। प्रकाश तो इसमें बिल्कुल है ही नहीं। इसलिये दिव्य प्रकाश व दिव्य शक्तियों की प्राप्ति के लिये तम को बढ़ाने का प्रश्न ही नहीं उठता। आगे रहा रजोगुण। दिव्य प्रकाश की प्राप्ति में यह रजोगुण भी बाधक है। क्योंकि दिव्य ज्ञान के लिये यह भी एक आवरण है। श्रीमद्भगवद्गीता अ० ३।३७-४० श्लोकों म रजोगुण से उत्पन्न होने वाले काम क्रोध आदि को ज्ञान का आवरण बताया गया है। वहां आता है कि, "काम[1] क्रोध इत्यादि ये महापाप्मा हैं। जिस प्रकार धूआ अग्नि को घेर लेता है, दर्पण को मैल घेर लेता है और गर्भ को जिस प्रकार उल्व (जरायु) घेरे रहता है. उसी प्रकार मनुष्य को ये काम क्रोध इत्यादि घेरे रहते हैं। ज्ञानी के ज्ञान को ये घेरने वाले हैं। इनका स्थान शरीर में मन, बुद्धि तथा इन्द्रियां हैं।"

---

१. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥
धूमेनाव्रियते वन्हिर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतै विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

इसलिए रजोगुण भी दिव्य प्रकाश व दिव्य शक्तियों की प्राप्ति में सहायक नहीं है। आगे रहा सत्व। यह स्पष्ट रूप में दिव्य ज्ञान की प्राप्ति में सहायक है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि "जब[1] सत्व की वृद्धि होती है तब इस शरीर के सब इन्द्रिय द्वारों में प्रकाश पैदा हो जाता है।" इसलिए यह निश्चय से कहा जा सकता है कि मनुष्य को दिव्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपने अंदर सत्व की वृद्धि करनी चाहिए।

अब विचारणीय यह है कि सत्व की वृद्धि किस प्रकार करें ? इस सम्बन्ध में कई उपाय बताये जा सकते हैं। उनमें एक उपाय भोजन भी है। शरीर-विज्ञान शास्त्र का यह मत है कि मनुष्य शरीर में रात दिन निर्माण व विनाश प्रक्रिया चल रही है। इस निर्माण व विनाश प्रक्रिया का आधार अन्न है। इसलिए क्या निर्माण करना और क्या विनाश करना अर्थात् शरीर में से बाहिर करना, यह सब अन्न पर आश्रित है। क्योंकि इन्द्रियां, मन व बुद्धि आदि जो कि आत्मा के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करने वाले हैं, इनका निर्माण

---

१. सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत॥
अ० १४। ११ श्लोक

सत्वात् संजायते ज्ञानम्। १५ अ० १७ श्लोक

अन्न से होता रहता है। इसलिये यदि सात्विक अन्न होगा तो स्पष्ट रूप में सत्वगुण की उत्पत्ति व वृद्धि होगी और ये इन्द्रियां आदि भी सात्विक बन जायेंगी। अन्न के द्वारा सदा मन की उत्पत्ति होती रहती है। इस सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषत् ६।५।१।३ में आता है कि—

अन्नमशितं त्रेधा विभजते......योऽणिष्ठस्तन्मनः

अर्थात् खाया हुआ अन्न तीन भागों में विभक्त होता है, उसका जो सबसे सूक्ष्म भाग है, वह मन बनता है। इसी प्रकार इन्द्रियां व बुद्धि आदि का भी निर्माण अन्न से होता रहता है। इसलिये हमें इनको सात्विक बनाने के लिये सात्विक अन्न ही खाना चाहिये। परंतु यहां यह बात ध्यान देने की है कि अन्न से मन के निर्माण का भाव यह नहीं है कि पहले मन नहीं था और फिर अन्न से इसकी उत्पत्ति हुई। वैदिक साहित्य में तो मन को 'अमृत' माना है। आत्मा के साथ यह मन प्रायः लगा रहता है। इसलिये यह तो नहीं कहा जा सकता कि पहले मन नहीं था और फिर अन्न द्वारा उसका निर्माण हुआ। इसका भाव यह है कि अन्न द्वारा मन का उपचय और अपचय अर्थात् वृद्धि और ह्रास होता रहता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि अन्न से मन व इन्द्रियों आदि का सदा निर्माण होता रहता है। अतः दिव्य प्रकाश व

दिव्य शक्तियों की चाहना वाले मनुष्य को सात्विक अन्न द्वारा अपने मन आदि को सात्विक बनाना चाहिये। उसमें किसी प्रकार का विजातीय तत्व. या मैल नहीं आने देना चाहिये।

सत्व गुण को प्रबल बनाना--

ऊपर हम यह देख चुके कि दिव्य-शक्ति चाहने वाले मनुष्य को सात्विक अन्न के भक्षण के द्वारा अपने मन आदि को सात्विक बनाना चाहिये। परंतु सत्व को प्रबल बनाने के अन्य भी कई उपाय हैं। इनको हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो केवल रज और तम के विनाशक उपाय हैं। रज और तम पर प्रहार करने वाले ये उपाय उग्र व कठोर हो सकते हैं। दूसरे कुछ उपाय प्रमुख रूप से सत्व की वृद्धि ही करने वाले हो सकते हैं। हठयोग से सम्बन्ध रखने वाली जितनी भी उग्र व कठोर क्रियाएँ हैं, वे मलों का नाश करने वाली हैं। विरेचन व शोधन करने वाली हैं। परंतु भगवान् की भक्ति करना, शान्ति, समता व स्थिरता आदि को बनाये रखना, दिव्य भावनाओं को जागृत करना, व दिव्य गुरु की शक्ति इत्यादि उपाय प्रमुख रूप से सत्व को बढ़ाने वाले हैं और गौण रूप से रज और तम के विनाशक भी हैं। इसी प्रकार और भी कई उपाय हो सकते हैं, जिनको

कि वेद के शब्दों में हम आगे दिखायेंगे। अब हम यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि अन्धकार के प्रतिनिधि वलासुर ने दिव्य ज्ञान देने वाली जिन दिव्य शक्तियों को घेर रक्खा है, वे दिव्य शक्तियां क्या हैं ?

—०—

द्वितीय-अध्याय

दिव्य-शक्तियां

श्रीमद्भगवद्गीता (१४।११) में कहा गया है कि "जब सत्व की वृद्धि होती है, तब इस शरीर के सब इन्द्रिय द्वारों में प्रकाश पैदा हो जाता है।" यही इन्द्रियों का दिव्य प्रकाश है या दूसरे शब्दों में दिव्य शक्तियां हैं। सामान्य प्रकाश तो सर्वसाधारण मनुष्यों की इन्द्रियों में होता ही है। परन्तु सत्व की वृद्धि होने पर जो प्रकाश पैदा होता है, वह सामान्य अवस्था के प्रकाश से भिन्न ही होता है। वास्तव में यह प्रकाश आत्मज्योति का है। सत्व की वृद्धि होने पर यह और भी विस्तृत व व्यापक हो जाता है। जिस समय यह आत्मज्योति बुद्धि, मन व इन्द्रियों आदि पर आकर पड़ती है, उस समय यह आत्मज्योति आत्मा की न कही जाकर बुद्धि, मन व इन्द्रियों आदि की कही जाती है। जिस प्रकार ओट में छिपे भगवान्[1]

---

१. तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। कठ ५।१५
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषः। ऋ० १।११५।१

की ज्योति सूर्य पर आकर पड़ती है और सूर्य को ज्योतिष्मान् बनाती है। उस समय वह भगवान् की ज्योति न कही जाकर सूर्य की ज्योति कहलाती है। और जिस प्रकार सूर्य की ज्योति चन्द्रमा पर आकर पड़ती है, उस समय वह सूर्य की न रह कर चन्द्रमा की ज्योति कहलाती है। इसी प्रकार आत्मज्योति मन बुद्धि आदि दर्पणों पर पड़ कर उस २ दर्पण की ज्योति करके कही जाती है। ब्रह्माण्ड में भगवान की ज्योति को प्रतिक्षिप्त करने वाले पदार्थ अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा विद्युत् आदि देवता करके व्यवहार में आते हैं। इसी प्रकार पिण्ड अर्थात् शरीर में आत्मा रूपी सूर्य की ज्योति को प्रतिक्षिप्त करने वाले जो अंग हैं, उनका भी वैदिक साहित्य में सूर्य आदि नामों से वर्णन किया गया है।

वेदों व अन्य शास्त्रों में आता है कि एक २ देवता शरीर व इन्द्रिय-गोलकों में आकर बैठा हुआ है। ऐतरेयारण्यक[1] में आता है कि 'अग्नि वाक् बनकर मुख में प्रविष्ट हुई २ है। वायु प्राणरूप होकर नासिकाओं में प्रविष्ट है। सूर्य चक्षुशक्ति बनकर आंखों में प्रविष्ट हुआ २

---

१. अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन् ... ...चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्

ऐ० २।४।२

है। दिशाएँ श्रोत्रशक्ति बनकर दोनों कानों में प्रविष्ट हैं। और चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गया है। इसी प्रकार अन्य सब देव भी शरीर में शारीरिक शक्ति बनकर प्रविष्ट हुए हैं। जिस प्रकार बाह्य जगत् में ये सब देवता उस परमात्म-ज्योति के द्वारा ज्योतिष्मान् होते हैं, इसी प्रकार शरीर में ये आत्म-ज्योति से ज्योतिष्मान् होते हैं।

इन्द्रियां देवताओं की गौएँ हैं--

शरीर में इन्द्रिय-स्थानों पर बैठे हुए इन देवों की ज्योतियों को वेद की परिभाषा में देवताओं की गौएँ कहा गया है। इसका भाव यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार मनुष्यों को गौएँ दूध पिलाती हैं। और सूर्य की किरणें औषधि, वनस्पति आदि में से रस लेकर सूर्य को पिलाती हैं। इसी प्रकार शरीर में विद्यमान ये इन्द्रिय-किरणें बाह्य जगत् से तत्तत् सम्बन्धी ज्ञान रस प्राप्त कर अपने २ देवताओं को पान कराती रहती हैं। इसलिए वेद की परिभाषा में इन्हें 'गौ' नाम दे दिया गया प्रतीत होता है। इन्हें इन्द्रिय-किरण कह लेवें, इन्द्रिय-प्रकाश कह लेवें, इन्द्रिय-शक्तियां या देवताओं की गौएँ कह लेवें बात एक ही है। अब आगे हम इन्हें 'गौ' नाम से भी सम्बोधित करेंगे। मन्त्रों में इन इन्द्रिय-किरणों व शक्तियों को देवों की गौएं कहा गया है। और यह

भी आता है कि 'वल' जिसको ब्राह्मण-ग्रन्थों में असुर कहा गया है। इन गौओं को देवताओं से छीन कर छिपा देता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस आधार पर दो एक कथानक भी आते हैं, जिनका स्पष्टीकरण हम आगे करेंगे। यह 'वल' इन्द्रिय-ज्योतियों पर पड़ा हुआ मल व आवरण है। वैदिक-साहित्य में आता है कि इस वल रूपी मल या आवरण को हटा देने पर इन्द्रिय-शक्तियां प्रकट हो जाती हैं। और इनको नाना साधनों द्वारा इतना बढ़ाया जा सकता है कि ब्रह्माण्ड में इनका अपने २ क्षेत्र का कोई भी तत्व ऐसा नहीं बचता जो कि इनकी पहुंच से बाहिर हो। परंतु संसार में हम यह देखते हैं कि साधारण मनुष्यों की इन इन्द्रियों में ऐसी कोई दिव्य ज्योति व दिव्य शक्ति नहीं होती। इसका कारण यह है कि, उनकी इन्द्रियां आदि चिमनियां बहुत मलिन व धुंधली होती हैं। जिस प्रकार काला व मलिन शीशा सूर्य की ज्योति को ग्रहण नहीं कर सकता, उसी प्रकार धुंधली व मलिन इन्द्रियां आत्म-ज्योति को ग्रहण ही नहीं कर सकतीं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ऐसे मनुष्यों में दिव्य ज्योति होती ही नहीं। परंतु यह याद रखना चाहिए कि आत्म ज्योति तो सबके अंदर है, पर साधारण मनुष्यों के दर्पणों पर 'वल' अर्थात् मैल का जो एक आवरण आया हुआ होता है। मैल

के जमते २ जो एक पहाड़ बन गया है; उसके कारण वे बाहिर प्रकट होने नहीं पातीं ।

दिव्य गुरु:--

अब प्रश्न यह है कि इन ज्योतियों अर्थात् देवताओं की गौओं को वल रूपी पहाड़ के नीचे से निकाले कौन ? साधारण मनुष्य में तो यह शक्ति होती नहीं कि वह वल रूपी असुर के फन्दे से गौओं को छुड़ा सके । और फिर उसे पता भी नहीं होता कि ऐसी कोई दिव्य-शक्ति होती भी है कि नहीं । इसलिए प्रायः कर साधारण मनुष्यों म अध्यात्म-विद्या सम्बन्धी विषयों में श्रद्धा का अत्यन्त अभाव होता है । परंतु जिन मनुष्यों के अन्दर इन विषयों के प्रति श्रद्धा होती है, उनके लिए वेद बृहस्पति सूक्तों द्वारा यह कहता है कि उन्हें ऐसे गुरु की अन्वेषणा करनी चाहिये जो कि दिव्य-शक्ति सम्पन्न हो । और समित्पाणि होकर उसको गुरु धारण करना चाहिए। परंतु किसी दिव्य-शक्ति सम्पन्न व्यक्ति को गुरु धारण करना भी कोई मामूली बात नहीं है । वेद के शब्दों में यदि हम इसको और भी स्पष्ट कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि, उसे उस दिव्य-गुरु का गर्भ बन जाना चाहिये । अर्थात् गुरु में अपनापन खो देना चाहिये । इस प्रकार जब मनुष्य किसी दिव्य व्यक्ति

को अपना गुरु बना लेता है, तब गुरु सबसे पहले यह देखता है कि शिष्य में कौनसी शक्ति सुगमता से बाहिर लायी जा सकती है। क्योंकि संसार में हम देखते हैं कि इस जगत् में भिन्न २ शक्ति वाले मनुष्य होते हैं। किन्हीं में कोई शक्ति बढ़ी हुई होती है, तो किन्हीं में कोई शक्ति। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि किन्हीं शक्तियों पर तो आवरण की तह मोटी होती है तो किन्हीं पर सूक्ष्म व विरल होती है। कई ऐसे भी मनुष्य हैं या यूं कहना चाहिए कि प्राय: अधिकतर ऐसे ही मनुष्य होते हैं, जिनकी सभी शक्तियों पर आवरण की मोटी तह जमी हुई होती है। उस तह को हटाने के लिए तो बहुत काल लग सकता है और जन्म जन्मान्तर तक लग सकते हैं। परन्तु जिन मनुष्यों में किसी शक्ति पर बहुत ही सूक्ष्म आवरण होता है, उसको तो सामान्य प्रहार से फोड़ा जा सकता है। इसलिए सबसे प्रथम गुरु शिष्य को देखकर यह पता लगाता है कि कौनसी शक्ति सुगमता से बाहिर आ सकती है। मन्त्र में आता है कि—

"अश्मापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्"

ऋ० १०।६८।८

वह बृहस्पति पत्थर से ढके हुए उस दिव्य ज्ञान (मधु) को इस प्रकार देख लेता है, जिस प्रकार उथले पानी में मछली

देखली जाती है।

और जिन शक्तियों पर आवरण की तह सूक्ष्म होती है, वे शक्तियां मनुष्य में खूब बढ़ी हुई होती हैं। वे उस मनुष्य में चुप नहीं बैठतीं। बार २ बोलती हैं। ऐसी शक्तियों के सम्बन्ध म वेद में कहा गया है कि—

"बृहस्पतिरमत त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्"

ऋ० १०।६८।७

वह बृहस्पति उन शक्तियों को जान लेता है जो कि गुफा में छिपी हुई बोल रही हैं।

इस प्रकार सबसे प्रथम यह जानने की आवश्यकता है कि, शिष्य के अन्दर छिपी हुई शक्तियों में कौनसी ऐसी शक्ति है जो कि सुगमता से बाहिर लायी जा सकती है। सर्व प्रथम उसी को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि एक शक्ति के बाहिर आने पर अन्य शक्तियां भी सुगमता से बाहिर आ सकती हैं। दिव्य गुरु ही यह काम सुचारू रूप से कर सकता है। जब गुरु शिष्य को देख कर यह पता लगा लेता है कि आवरण के नीचे दबी अमुक शक्ति सुगमता से बाहिर आ सकती है, तो वह अपनी शक्ति के प्रभाव से सुगमता से उसे बाहिर निकालता है। और उस स्थान पर उस शक्ति का बीज बोता है जहां कि आवरण का पहाड़ न खड़ा

हो। इसका भाव यह है कि गुरु को यह चाहिए कि सबसे पहले शिष्य के उस व्यसन व आवरण पर सीधा प्रहार न करे, जो व्यसन व आवरण बढ़ते २ पहाड़ का रूप धारण कर चुके हैं। उन पर सीधा प्रहार करने का यह परिणाम निकलेगा कि शिष्य चोरी छिपे उस व्यसन की पूर्ति करेगा। गुरु को यह न पता चल जाये कि मैं निषिद्ध व्यसन की पूर्ति कर रहा हूँ, इसको छिपाने में वह असत्य भी बोलेगा। और इस प्रकार शनैः २ उसकी गुरु के प्रति श्रद्धा भी जाती रहेगी। इसलिए इन सब बातों को ध्यान में रख कर गुरु को यह चाहिए कि वह शिष्य की उन बातों को अपील करे जो श्रेष्ठ हों। पहले उनको समुन्नत करे। जब श्रेष्ठ बातें बहुत बढ़ जायेंगी तो अन्य सब व्यसन स्वयं जाते रहेंगे। इसी दृष्टि से वेद में हस्पति के सम्बन्ध में कहा कि—

"बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो-वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः"

ऋ० १०।६८।३

अर्थात् बृहस्पति ने 'वल' के पर्वतों के नीचे से दिव्य शक्तियों को निकाल कर और उनसे दूर हटाकर शिष्य में उनका बीज-वपन किया। जिस प्रकार किसान अन्न का भण्डार भर कर रखने वाले वैश्यों से जौ आदि बीज लेकर खेत में बोते हैं।

दिव्य शक्ति का भण्डार सब मनुष्यों के अन्दर निहित

है। केवल मात्र आवरण को हटा कर उसको बाहिर प्रकाश में लाना है। यह कार्य दिव्य गुरु बहुत अच्छी प्रकार कर सकता है। इसलिये मन्त्र में दिव्य गुरु बृहस्पति का यह कार्य बताया है। अब प्रश्न यह है कि जब गुरु ने वासनाओं व व्यसनों से आक्रान्त शिष्य की शक्तियों को उनसे पृथक् कर अन्यत्र बीज-वपन कर दिया तो वे शक्तियां कब वृक्ष रूप में बढ़कर पुष्पित व पल्लवित होंगी ? अर्थात् वे शक्तियां कब इतनी बढ़ जायेंगी कि संसार की कोई भी विरोधी शक्ति उन्हें दबा न सके और ब्रह्माण्ड में उनकी गति अव्याहत हो। इस सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं कि एक तो शिष्य ने गुरु के प्रति अपने आपको कितना समर्पण किया है। और दूसरे उसका अपना प्रयत्न व अभीप्सा कितनी है ? प्रथम बात के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि गुरु का तीव्रतम प्रयत्न उसी अवस्था में हो सकता है, जब कि शिष्य गुरु में अपनेपन को खो देवे। और वेद के शब्दों में गुरु का गर्भ बन जाये। इसी दृष्टि से ऋ० १०।६८ सू० में गौ और वलासुर का वर्णन करते हुए २य मन्त्र में कहा कि—

"जने मित्रो न दम्पती अनक्ति"

अर्थात् (मित्रः) निर्माता बृहस्पति (जने) जनन कार्य में दम्पती की तरह अपने आपको व्यक्त करता है। भाव यह है कि जिस प्रकार स्त्री और पुरुष पुत्ररूप में अपने आपको व्यक्त

करके दम्पती भाव को चरितार्थ करते हैं, उसी प्रकार यह बृहस्पति शिष्य के निर्माण में अपने को दम्पती की तरह समझता है। इस लिये गुरु की पूर्ण सहायता लेने के लिये यह आवश्यक है कि शिष्य गुरु में अपनेपन को खो देवे और उसे पूर्ण समर्पण कर देवे। परन्तु इस सम्बन्ध में एक प्रश्न हो सकता है कि शिष्य में पूर्ण आत्म-समर्पण की भावना भरने के लिये गुरु को यह चाहिये कि वह अपनी दिव्य शक्ति के प्रभाव से या अन्य उपायों से शिष्य में यह विश्वास पैदा कर देवे कि उसका उद्धार यदि होना है तो यहीं होना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत अंत तक गुरु का भी यह काम है कि वह शिष्य को समर्पण के लिये अनुकूल बनावें। वेद में अनेकों स्थलों पर ऐसा वर्णन भी आता है। परन्तु पहले हमें यह समझ लेना चाहिये कि गुरु का गर्भ बन जाने का क्या भाव है? प्राणियों में जब गर्भ स्थिति होती है तो पहले पहल वह गर्भ "कलल" रूप में होता है। स्वर्ण से कुण्डल आदि बनाने हों, लोहे से मशीनरी बनानी हो तो पहले सोने व लोहे को पिघलाकर सांचे में डाला जाता है। ऐसी अवस्था में ही लोहे व सोने को जैसे सांचे में डाला जायेगा, वैसा वे रूप धारण कर लेंगे। उपनयन के समय आचार्य ब्रह्मचारी को जब अपना गर्भ बनाता है, तब ब्रह्मचारी की वह अवस्था बहुत कच्ची होती है। इस समय वह बहुत

सख्त व दृढ़ नहीं होता। इस लिये इस समय शिष्य को जैसी शिक्षा दी जायेगी, वैसा वह बन जायेगा। फिर शिष्य के बनाने में आचार्य का तीसरा स्थान है। (मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद) कुछ न कुछ माता पिता से वह संस्कार लेकर आता है। इस लिये आचार्य को भी उसको ठीक २ परिमार्जित व शिक्षित करने में बहुत कठिनाई होती है। परन्तु जो मनुष्य बड़ा होकर अध्यात्म में जाना चाहता है। वह एक प्रकार से पूर्ण परिवर्तन करना चाहता है। उसके लिये गर्भस्थ कलल के समान कोमल बनना अति दुष्कर है। क्योंकि उसके अपने विचार परिपक्व हो चुकते हैं। कुछ सिद्धान्त बने चुके होते हैं। और आदतें दृढ़मूल हो चुकती हैं; जिनको छोड़ना आसान काम नहीं है। इस लिये ऐसे व्यक्ति को सुकोमल बनाने के लिए कुछ तो परिस्थिति ठोकर देती हैं, जिससे उसके परिपक्व विचार व दृढ़ आदतें चकनाचूर हो जाती हैं, ग्रन्थियां टूट-फूट जाती है, उस समय मनुष्य में एक दम परिवर्तन आता है। परन्तु शिष्य को कोमल बनाने में गुरु बहुत बड़ा सहायक है। वेद में आता है कि—

"तद् देवानां देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन् दृढहाव्रदन्त वीडिता:"

ऋ० २।२४।३

अर्थात् बृहस्पति ने जब देवों (इन्द्रियों) को देवतम

अर्थात् और भी दिव्य बनाना चाहा तो जो अपने अभ्यस्त बातों व आदतों में दृढ़ थे, उन्हें शिथिल कर दिया और जो बलवान् थे, उन्हें कोमल कर दिया। इन्हीं बातों को अन्य मन्त्रों (ऋ० २।२४।२, ४) में भी कहा गया है।

इस प्रकार आचार्य भी अपनी दिव्य शक्ति द्वारा शिष्य की परिपक्व आदतों को—जो कि अध्यात्म मार्ग में बाधक हैं, दूर करने का प्रयत्न करता है। शिष्य को यह चाहिए कि वह इन असुरों, वासनाओं आदि से लड़ने के लिये गुरु की शक्ति को अपने अन्दर कार्य करने देवे। उसका अपनापन कुछ न रहे। इसलिए वेद में कहा है कि "भरे २ अनुमदेम जिष्णुम्" ऋ० १०।६७।६। हम प्रत्येक संग्राम में उस जयशील बृहस्पति के कार्यों का अनुमोदन करें अथवा उनके अनुकूल रहते हुए शत्रुओं के विनाश में हर्षित हों। इस प्रकार गुरु का प्रयत्न व शिष्य का प्रयत्न ये दोनों बातें होने पर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस दिन या इस तिथि को ये इन्द्रियां असुरों के पाशों से अवश्य छूट आयेंगी। इसलिए वेद में इन्हें 'अतिथिनी' कहा है। अर्थात् इनके प्रकट होने की कोई निश्चित तिथि नहीं है। परन्तु यह निश्चित है कि प्रयत्नशील

व्यक्ति को ये अवश्य प्राप्त हो जायेंगी। हमें यह याद रखना चाहिये कि हमारी इन्द्रियों का पूर्ण रूप से मल, वासना तथा असुर आदि से छूट जाना ही दिव्य शक्ति सम्पन्न होना है।

—०—

तृतीय अध्याय

वल-असुर (आवरण)

ऊपर हमने संक्षेप में ऐन्द्रियिक दिव्य शक्तियों के सम्बन्ध में विचार किया। ये शक्तियां देवताओं की गौएं हैं, प्रकाश की किरणें हैं। इन शक्तियों व प्रकाश की किरणों को रोकने वाला एक आवरण है, जिसको वैदिक साहित्य में कई नामों व विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। इस आवरण को हम वैदिक साहित्य की परिभाषा में आसुरी-शक्ति कह सकते हैं। संसार में दो ही शक्तियां हैं। एक दैवी शक्ति और दूसरी आसुरी शक्ति। दैवी शक्ति प्रकाश की प्रतिनिधि है तो आसुरी शक्ति प्रकाश को रोकने वाली है। यह आसुरी शक्ति रज और तम इन दोनों से सम्बन्ध रखने वाली है। अब प्रश्न यह है कि यह आसुरी शक्ति एक है या अनेक। अर्थात् वृत्र, वल, अद्रि, अहि, पणि आदि नामों से कहे जाने वाले ये भिन्न २ असुर हैं, या एक ही आसुरी शक्ति

के कार्यभेद या स्थानभेद से विविध नाम हो गये हैं। इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि इन्हें चाहे भिन्न २ असुर मान लेवें या एक ही शक्ति के स्थान व कार्य की दृष्टि से विविध नाम मान लेवें; इसमें कोई विशेष विरोध की बात नहीं है। इस सम्बन्ध में हम विशेष विचार फिर कभी रक्खेंगे। यहां पर हम यही मानकर चलते हैं कि एक ही आसुरी शक्ति के स्थान, कार्य व गुण आदि की दृष्टि से भिन्न २ नाम हो गये हैं। इसलिए बलासुर[1] के कई नाम व विशेषण आते हैं। उसकी नगरी व आश्रय स्थानों का भी संकेत मिलता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में इस वल को असुर कहा गया है। असुर कहने का भाव यह है कि यह प्राण की बुरी शक्ति है जो कि आत्मज्योति को रोकती है। 'वल'[2] के धात्वर्थ से भी

---

१. वलः, अलातृणः, पीयतः, पर्वतः, अश्मा, तमः, अद्रिम्, फलिगम् गोव्रजः [गोः पुराव्रजः] अश्मन्मयानि नहना, अनृतस्य सेतुः अवार्चां पुरम्, दुघ्रानां रक्षितारम्, पणि॰, गोधायसम्, मृधः, अर्बुदम्, अहिः, दृभीकम्, कृत्रिमाणि रोधांसि, वलस्य बिलम्, वलस्य परिधीन्, वलस्य सानुम्।

२. वल-बल संवरणे सचरणे च।

यही पता चलता है कि यह एक आवरण है। यह आवरण आत्मज्योति को केवल घेरने वाला ही नहीं अपितु उसे सांसारिक भोग भोगने में साधन भी बनाता है। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि मानवीय शरीर का यही वलासुर स्वामी है। वासनामय जगत् में देवों की गौओं (इन्द्रिय शक्तियों) को लिये हुए वह घूमता फिरता है। यह वलासुर दो कार्य करता है। एक तो आत्मा[1] की सामर्थ्य को नष्ट करता है। और दूसरे गौएं अर्थात् इन्द्रियों की दिव्यता बिल[2] से बाहिर न निकल आवे ऐसा उपाय करता रहता है। अब हम संक्षेप में वलासुर के, विशेषणों आदि का स्पष्टीकरण करते हुए उसके स्वरूप पर कुछ प्रकाश डालते हैं।

मनुष्य की कुछ इच्छायें, संस्कार व वासनाएं आदि होती हैं, जिनकी सीमा में रहता हुआ ही वह सोचा करता है, और कार्य किया करता है। उसके अपने मन्तव्य उसे बाहिर नहीं जाने देते। जो सिद्धान्त उसके अपने बन चुके हैं वे ही ठीक हैं, ऐसा उसका आग्रह हो जाता है। ये सब "कृत्रिम-रोध[3]" हैं, और वलासुर के रूप हैं। दूसरे शब्दों में इनको

---

१. अलातृणः (अलमातृणत्ति) ऋ० ३।३० १०

२. वलस्य बिलम् ऋ० १।११।५

३. कृत्रिमाणिरोधांसि ऋ० २।१५।८

वलासुर की परिधियां[1] भी कह दिया है। इसका भाव यह है कि प्रत्येक साधारण मनुष्य की अपनी २ परिधियां होती हैं, जिनके बाहिर वह सोच नहीं सकता और न देख सकता है। यदि ऐसे मनुष्य के सामने उसकी परिधि के बाहिर की बात कही जाय तो वह उसे सुनना पसन्द न करेगा। उसकी हसी उड़ायेगा या उस पर विश्वास न करेगा अथवा उसको समझ न सकेगा। इस लिये श्रेष्ठ व पारखी पुरुष दूसरे मनुष्य को देख कर तत्काल यह जान लेते हैं कि उसकी परिधि कहां तक है। उस परिधि से बाहिर की बातें उसे नहीं कहते। क्यों कि वह समझ नहीं सकता। श्रीमद्भगवद्गीता में भी 'न बुद्धि भेदं जनयेदज्ञानाम्' इस श्लोक द्वारा यही बात कही है। वलासुर को 'कृत्रिमरोध' कहने से हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि मनुष्य बाह्य संसार की दृष्टि से कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो यदि उसने भी 'कृत्रिमरोध' बना लिये हैं, तो वह भी इस आध्यात्मिक क्षेत्र में एक मूर्ख मनुष्य के तुल्य ही है। इस लिये जो बाह्य जगत् के लिये कसौटी है, वह आध्यात्मिक जगत् के लिये बिल्कुल निकम्मी है। इस प्रकार यह वलासुर ही मनुष्यों की परिधि बांधने वाला है।

मनुष्य में जो दिव्य प्रकाश की किरणें हैं, उनके लिये यह वलासुर बाड़े[2] का काम भी करता है। जिस

---

१. वलस्य परिधीन् ऋ० १।५२।५

२. गोः व्रजः (गोः पुरा व्रजः) ऋ० ३।३०।१०

प्रकार गौएँ बाड़े में घेर ली जाती हैं, और वे उस बाड़े से बाहिर नहीं जा सकती। इसी प्रकार देवों की दिव्य प्रकाश की किरणों को यह वलासुर घेरे रहता है। और जो ऐन्द्रियिक किरणें बाहिर आरही हैं। एक तो वे आवरण में से छनकर आ रही हैं अथवा यह भी कह सकते हैं कि उनके आगे २ यह वलासुर चलता है। उदाहरण के तौर पर यह कहा जा सकता है कि जिसको जिसके प्रति पक्षपात होता है, उसी के हक में वह देख व सुन सकता है अर्थात् अपने आवरण के अनुकूल ही वह देखेगा, सुनेगा और सब कार्य करेगा। और फिर यह वलासुर प्रकाश की किरणों को रोक रखने के लिये एक कार्य यह करता है कि वासना आदि के तह पर तह रखता चला जाता है, जिससे कि वे पहाड़[1] व उनके शिखर[2] बन जाते हैं। जिस मनुष्य में वलासुर का पहाड़ व शिखर बन चुका है उसको देखकर आसानी से पता लगाया जा सकता है कि अमुक व्यसन, पाप व आग्रह उसमें विशेष रूप से हैं। इस प्रकार जब नानाविध व्यसनों व वासनाओं आदि के पहाड़ व शिखर बन जाते हैं, तब उन्हें विदीर्ण[3] करना या

---

१ पर्वतः ऋ० २।१५।८

२ वलस्य सानुम् ऋ० ६।३९।२

३ अद्रिः ऋ० १०।६८।११

भग्न कर देना बड़ा कठिन कार्य हो जाता हैं। वे एक प्रकार के पत्थर के बांध[1] बन जाते हैं, जिनको लांघना बड़ा कठिन हो जाता है। इस लिये वलासुर को स्वयं अश्मा[2] अर्थात पत्थर भी कह दिया है। इस वलासुर को तम[3] भी कहा गया है अर्थात् वह अन्धकार रूप है। जिस मनुष्य में तमोगुण की अधिकता से अन्धकार छाया हुआ होता है, उसे विश्वास होता ही नहीं कि कोई दिव्य प्रकाश भी होता है। यह दिव्य प्रकाश हमारी अन्तरतम गुफा में निहित है। इस लिये उस दिव्य प्रकाश को पाने के लिये मनुष्य को अपने अन्दर की ओर जाना चाहिये। परन्तु यह वलासुर मनुष्य को अन्दर न जाने देकर बाहिर की ओर ही ले जाता है। इस लिये अन्दर क्या है? इसका मनुष्य को ज्ञान तक नहीं होता। वेद में भी इस वलासुर की नगरी का द्वार बाहिर की ओर ही खुलने वाला बताया है। इसी भाव को कठोपनिषत् में दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह दिया है।

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" "पराचः कामाननुयन्ति बालाः"

कठ. २।१।१-२

---

१ अश्मन्मयानि नहना ऋ० १० ६७।३

२ अश्मा ऋ० १०।६८।४

३ तमः ऋ० १०।६८।५

४ अपाचीं पुरम् ऋ० १०।६७।५

अर्थात् भगवान् स्वयम्भू ने इन्द्रियों को बाहिर की ओर को खोद दिया है। इस लिये मनुष्य बाहिर की ओर को देखता है, अपने अन्दर की ओर नहीं देखता।

बालबुद्धि मनुष्य ही बाह्य कामनाओं के अनुकूल चलते हैं। इस लिये बलासुर का एक गुण वेद में यह भी बताया है कि वह (फलिगम[1]) फलाभिलाषा से किये गये कर्मों में विद्यमान् रहता है। इस लिये मनुष्य में जब तक फलाभिलाषा विद्यमान् है तब तक बलासुर का विनाश नहीं हो सकता। और इस प्रकार दिव्यशक्तियों का उद्गम कठिन है। इसी प्रकार वेद मन्त्र में भी बलासुर की नगरी को बहिर्मुखी बताया है। साधारण मनुष्य इस दिव्य प्रकाश को क्यों नहीं देख सकता? इसका एक हेतु और भी है, और वह यह कि इस बलासुर की नगरी के द्वार पर बांध है, जो अनृत[2] रूप। इस अनृत रूपी बांध के कारण अन्दर प्रवेश न कर सकने से सचाई क्या है? मनुष्य यह नहीं देखपाता। वह सत्य कुछ और समझता है। वासनाओं से अभिभूत होकर संसार के इन क्षणभंगुर भोगों में असली सुख समझता है। और इन भोगों के वह इतना पराधीन हो जाता है कि एक प्रकार से पीया[3]

---

१ फलिगम् ऋ० ४.५०।५

२ अनृतस्य सेतुः ऋ० १०।६७.४

३ पीयतः ऋ० १०।६८।६

जाता है। और इस प्रकार वे भोग आत्मा की शक्ति का विनाश कर देते हैं।

इस प्रकार वलासुर के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये वेद में आये उसके विशेषणों संज्ञाओं आदि द्वारा हमने संक्षिप्त विवेचन किया। इसी प्रकार और भी कई रूपों में वलासुर के स्वरूप का वर्णन वेद मन्त्रों में आता है। वलासुर सम्बन्धी ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि आधुनिक भाषा में वल को यदि कोई नाम देना चाहें तो 'वासना' नाम दिया जा सकता है। वल वासना का एक रूप है जो कि प्रकाश की किरणों को रोकता है। यह वासना शब्द वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों व प्रमुख उपनिषदों में बिल्कुल नहीं आता। इस लिये भी यह विचारणीय हो जाता है कि वासना के लिये वेदादि शास्त्रों में क्या शब्द आया है? वल के स्वरूप व कार्यों को देखते हुए हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि वेदादि प्राचीन शास्त्रों में वासना के स्थान पर 'वल' या 'वृत्र' प्रयोग हुआ है। वल और वासना को पर्याय बताने वाला अथवा उनमें परस्पर सम्बन्ध जोड़ने वाला एक प्रमाण भी है। "वलन्ति हृदि वासनाः" महोपनिषत् ५।७८ अर्थात हृदय में विद्यमान वासनाएँ मनुष्य को आ घेरती हैं।

इस प्रकार वल धातु का प्रयोग वासना की एक क्रिया के लिये हुआ है। इस 'वल' क्रिया के कर्ता को वासना कह

दो या 'वल' कह दो बात एक ही है। इस लिये अब हम वल के स्थान पर वासना शब्द का भी प्रयोग करेंगे।

वल का शरीर में स्थान व स्थितिः—

वेद में वल रूपी वासना को प्रमुख रूप से विनष्ट करने वाले दो देवता बताये गये हैं। एक इन्द्र और दूसरा बृहस्पति। इन दोनों का निवास व कार्य क्षेत्र हृदय और मस्तिष्क दोनों स्थान हैं। यह वलरूपी वासना भी इन्हीं दोनों स्थानों पर रहती है। हृदय में यह मन आदि से सम्बन्धित कलारूपी दिव्य प्रकाश की किरणों को घेरती है। और मस्तिष्क में ज्ञान विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली इन्द्रिय सम्बन्धी दिव्य किरणों का घेरती है। हमें इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिये कि मानव पिण्ड में हमारी इस आत्मा व आत्मिक शक्ति के स्थान भेद वा कार्य भेद से ही इन्द्र व बृहस्पति दो नाम हो गये हैं। हमारी यह आत्मा की शक्ति व परमात्म शक्ति इन्द्र व बृहस्पति नाम से इन दोनों स्थानों की वासनाओं को विनष्ट करती हैं। इस वलरूपी वासना की हमारे शरीर में कई प्रकार की स्थितियां बतायी गई हैं। उदाहरण के तौर पर उनमें कुछ इस प्रकार हैं।

शीपाल-शैवाल (काई):—(ऋ० १०।६८।५) जिस प्रकार पानी में काई जम जाती है अथवा तालाबों में ठहरे पानी के अन्दर शैवाल व काई जैसी घास उग आती है, और

वह तालाब के सम्पूर्ण पानी को घेर लेती है। इसी प्रकार इस बल रूपी वासना ने हमारे प्रकाश के स्थानों को घेर रक्खा है।

भोज्यौज— (ऋ० १०।६८।६) जिस प्रकार भोज्य पदार्थ में उसकी निधि भोज्यौज छिपी रहती है। उस निधि को हम किसी भी नाम से कह लेवें। हमने उसका नाम भोज्य पदार्थ का ओज तत्व करके स्मरण किया है। उस निधि के चारों ओर आवरण रहता है।

अण्डाः—(ऋ० १०।६८।७) जिस प्रकार अण्डे के अन्दर पक्षी का गर्भ घिरा रहता है, उसी प्रकार बल रूपी वासना ने प्रकाश की किरणों को घेर रक्खा है।

मज्जाः—(ऋ० १०।६८।६) जिस प्रकार हड्डी से मज्जा चिपटी रहती है, उसी प्रकार यह वासना भी इन्द्रिय-शक्तियों से चिपटी हुई है।

गोमतीः—(ऋ० ८।२४।३०) इन्द्रियों के प्रवाह में यह बलरूपी वासना साथ २ बहती है और उसमें रमी रहती है।

इस प्रकार उपर्युक्त कुछ स्थितियां बलरूपी वासना की हमने दिखाई। इसी प्रकार और भी कई रूपों में इस वासना ने मनुष्य को आक्रान्त कर रक्खा है। इस वासना रूपी मल से जब मनुष्य का छुटकारा हो जाता है, तब वह दिव्य प्रकाश सब इन्द्रिय द्वारों में प्रकट होता है जो कि ओझल वस्तु को भी देख सकता है, सुन सकता है इत्यादि।

—०—

चतुर्थ-अध्याय

वल (वासना)--विनाश

इस वल रूपी वासना के विनाश के लिए वेदादि शास्त्रों में अनेकों साधन बताये गये हैं। उनमें से कुछ साधनों का हम यहां वर्णन करते हैं।

इन वासनाओं से छुटकारा पाने के लिये कई मनुष्य यह करते हैं कि उन वासनाओं को जबर्दस्ती दबाते हैं। वासनाओं से छुटकारा पाने का यह उपाय ठीक नहीं है। क्योंकि इससे वासनायें जाती तो नहीं परंतु मनुष्य के अवचेतनात्मक स्थान (Sub-conscious self) में जा छिपती हैं। मनुष्य यह समझता है कि वासनाएँ हट गईं परंतु वे हटी नहीं होतीं। अवचेतनात्मक भाग में पड़ी हुई अपनी संतुष्टि का अवसर ढूंढती रहती हैं। इस अवचेतनात्मक भाग का वेदादि शास्त्रों में असुरों की पुरि, वल का बिल इत्यादि

कई नामों से संकेत किया गया है। इस असुरों की पुरि में छिपी हुई वे वासनाएँ स्वप्नादि में प्रकट हुआ करती हैं। योग भ्रष्ट होने का भी यही कारण है। योग मार्ग में चलने वाला व्यक्ति यदि वासनाओं को दबाता है, उनको निकाल बाहिर नहीं करता तो ऐसे योगाभ्यासी के पतन का सदा खतरा बना रहता है। इसी प्रकार वासनाओं को दबाने का परिणाम बड़ी २ बिमारियों का पैदा हो जाना भी है। इसलिये विचारणीय यह है कि इन वासनाओं से छुटकारा पाने के लिये मनुष्य को क्या उपाय करना चाहिये।

इस आवरण या वासना को विनष्ट करने के लिए दो प्रकार के उपायों का अवलम्बन किया जा सकता है। एक तो यह कि सीधा इस आवरण पर प्रहार शुरू कर दिया जाये। और दूसरे इस आवरण या वासना ने जिन गौओं अर्थात् इन्द्रिय शक्तियों को घेरा हुआ है, उनको खूब बढ़ाया जाये जिससे कि वे बढ़ कर स्वयं उस आवरण का विनाश कर देवें।

इन दोनों प्रकार के उपायों से वल रूपी वासना व आवरण को विनाश करने का वेद मन्त्रों में विधान मिलता है। आवरण को विनष्ट करने के लिये ये दोनों प्रकार के उपाय साथ २ चलने चाहियें।

भगवान् ने संसार का निर्माण करते हुए अंधकार की प्रतिनिधि आसुरी शक्तियों व प्रकाश की प्रतिनिधि दैवी शक्तियों

के लिये काल की दृष्टि से दो विभाग कर दिये हैं। आसुरी शक्तियों के लिये रात्रि है और दैवी शक्तियों के लिये दिन है। मनुष्यों में वासना आदि का वेग प्रायः कर रात्रि में ज्यादः होता है। और दैवी शक्ति का प्रभाव दिन में अधिक होता है। क्योंकि समाज भय तथा विवेक रूपी दण्ड आदि दिन में दैवी शक्ति का साथ देते हैं। ये दोनों शक्तियां परस्पर लड़ती हैं और एक दूसरे के समय में भी अपना प्रभाव रखना चाहती हैं। जो मनुष्य जिस शक्ति के प्रभाव में होता है, वह शक्ति रात दिन के २४ घण्टों में ज्यादः से ज्यादः समय तक रहने का प्रयत्न करती है। इस लिए बल रूपी वासना के विनष्ट करने का सबसे प्रथम पग कहने को यह हो सकता है कि मनुष्य वासना के समय को न बढ़ने दे। भगवान् ने मनुष्य के इन्द्रिय द्वारों में "रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन्" ऋ० १०।६८।११. रात्रि में अन्धकार रख दिया है और दिन में ज्योति रख दी है। इस ज्योति और विवेक का आश्रय लेकर मनुष्य को यह करना चाहिए कि सब से प्रथम वह दिन में होने वाले वासना के अभ्यासों व आक्रमणों को रोके। किसी भी इन्द्रिय से किसी भी प्रकार का उपभोग करते हुए उसमें रस न ले तो उससे यह वासना क्षीण होती जायेगी। परन्तु यह काम आसान नहीं है। ये

वासनायें[1] निकाली जाती हुई भी बार २ आकर इन्द्रियों को आ घेरती हैं। क्योंकि इन्द्रियों के अंदर विद्यमान परमाणुओं को जो अभ्यास पड़ा हुआ है, अथवा जो वासना उन अंगों में चिपटी हुई है, उस पर जब बाह्य दुनिया का उत्तेजक (Stimulus) पड़ता है, तो वह अभ्यास के अनुसार वैसी ही प्रतिक्रिया (Rseponse) कर देती है। मनुष्य जब और भी स्वाद लेता है तो वह और भी दृढ़ मूल होती जाती है। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि यह प्रतिक्रिया (Response) क्षीण हो और यदि कभी हो तो अन्तरात्मा के अधीन हो। इस प्रकार इस वल रूपी वासना से छुटकारा पाने के लिये मनुष्य कई प्रकार के उपाय करते हैं। वनों व जंगलों में चले जाते हैं जहां कि दुनिया के साथ सम्पर्क ही न हो। परन्तु इस सम्वन्ध में भी यह याद रखना चाहिये कि किसी अंश तक वनों में चले जाना भी बेकार हो जाता है, यदि इन वासनाओं को जड़ मूल से उखाड़ न फैंका जाये। क्योंकि जंगल में जाकर वासनाओं को कोई उत्तेजक-(Stimulus) मिलता नहीं, इसलिए वे शांत सी पड़ी रहती हैं। मनुष्य यह समझता है कि वासनाएँ समाप्त हो चुकीं परन्तु यह भ्रम है। क्योंकि उसकी परीक्षा तो

---

१. एष अपथितो वलो गोमतीमवतिष्ठति। ऋ० १०।२४।३०

दुनिया में आकर होती है। अत्यधिक बलवान् उत्तेजक के आने पर भी यदि वासनाएँ न भड़कें तभी यह समझना चाहिए कि वासनाओं का अन्त हो गया। इसलिए वनों में जाना इतना तो सहायक है कि वासनाओं में जोर नहीं रहता। और उत्तेजक की गरमी न मिलने से उनमें उबाल शनैः २ कम होता जाता है। उस समय मनुष्य थोड़े से भी प्रयत्न से उन्हें उखाड़ फैंक सकता है

वासनाओं को उखाड़ फैंकना—

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि वासनाओं से छुटकारा पाने के लिए प्रायः कर मनुष्य इन्हें दबाते हैं। वासनाओं से छुटकारा पाने का यह तरीका गलत व हानिप्रद है। इसलिए वासनाओं को दबाना नहीं चाहिए, इन्हें उखाड़ फैंकना चाहिए। अब विचारणीय यह है कि इनको उखाड़ने के लिए हमें क्या उपाय करने चाहियें। इसके लिए वेद मंत्रों में कई उपाय बताये गये हैं। जैसा कि वेद मन्त्रों में आता है कि ये वासनाएँ मनुष्य में अस्थि के अन्दर मज्जा की तरह इन्द्रियों से चिपटी हुई हैं और पानी में काई की तरह तथा अन्न में भोज्यौज की तरह विद्यमान हैं; तो सबसे पहला उपाय यह करना चाहिए कि इनके बन्धन को शिथिल किया जाये। इन्हें ऊपर की ओर को तैराया जाये। इस प्रकार करने

से इनके बन्धन ढीले पड़ेंगे। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिए कि एक चिपटी हुई चीज, गहराई में पहुँची हुई या दबायी हुई चीज हमें थोड़ी लग सकती है। परन्तु जब उन्हें शिथिल किया जायेगा या ऊपर तैराया जायेगा तो वे बहुत लगेंगी। जिस प्रकार रूई की गांठ कसो हुई थोड़ी सी लगती है। परन्तु जब उसे शिकञ्जे से बाहिर निकाल कर फैलावें तो वह बहुत लगने लगती है। इसी प्रकार ये वासनाएं जब मनुष्य म चिपटी हुई होती हैं, या दबादी गई होती हैं, तो ये थोड़ा लगती हैं। परन्तु जब इन पर से नियन्त्रण कम किया जायेगा तो ये ही ऊपर तैरना शुरू कर देंगी और बहुत लगेंगी। उस अवस्था में यह सम्भव है कि योग साधना करते हुए मनुष्य में कुछ काल के लिये वासनाएँ बहुत प्रबल हो जायें और मनुष्य यह समझें कि योग साधना करने वाला यह व्यक्ति तो ढोंगी तथा अन्यों की आंखों में धूल झोंक रहा है। परन्तु इसकी परवाह न करते हुए भी जिस मनुष्य के अन्दर योग साधना की आग निरन्तर जल रही है, वह उन वासनाओं को अवश्य उखाड़ फेंकेगा। उनके विनाश होने से पहले वासनाओं का बढ़ना उसी प्रकार है, जैसे कि कोई डाक्टर अपरिपक्व फोड़े को बढ़ाता है। जब फोड़ा पक जाता है तब उसे आसानी से साफ किया जा सकता है उसी प्रकार जब वासनाओं को शिथिल कर दिया जायेगा तो वे आसानी से उखाड़ी जा सकेंगी। इस लिए ऐतरेय ब्राह्मण तथा ताण्ड्य

महाब्राह्मण में वलासुर को पहले उद्भेदन व शिथिल करने का विधान आता है। अब विचारणीय यह है कि इन वासनाओं को शिथिल कैसे करें ? इस सम्बन्ध में कई उपाय बताये जा सकते हैं। एक तो यह कि उन पर नियन्त्रण कम किया जाये, उन्हें दबाया न जाये। ऐसी अवस्था में अपने स्वभाव के अनुसार वे सन्तुष्टि (Fulfilment) के लिए स्वयं ऊपर तैरना शुरू कर देंगी। इन वासनाओं को जब दबाया जाता है; या प्रहार किया जाता है तभी ये अवचेतनात्मक भाग (Subconscious Self) में जा छिपती हैं। यदि इन्हें दबाया न जायेगा तो ये क्यों छिपने लगीं ? परन्तु इस सम्बन्ध में कोई यह पूछ सकता है कि इन वासनाओं पर से नियन्त्रण आदि के हटा देने या इनको न दबाने से ये और भी भड़क जायेंगी। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वहां तो यह ठीक है, जहां कि मनुष्य में भगवान् की प्राप्ति के लिये आग प्रज्वलित नहीं हुई है। ऐसे निरुद्देश्य व दुनियादार आदमी के लिये तो वासनाओं का दबाना किसी अंश में ठीक है। परन्तु भगवान् की प्राप्ति के लिये रात दिन बेचैन रहने वाले मनुष्य के लिये इन पर न ध्यान देना ही कुछ समय तक ठीक है। जिस समय वासनाएँ शिथिल की जाती हैं, उस समय वे बढ़ती हुई दिखाई देती हैं तो उस समय मनुष्य की क्या अवस्था होती है ? इसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं। जैसे कि दो सेनाओं में लड़ाई हो रही हो उनमें से एक

सेना किले के अन्दर से लड़ रही है, और पर्याप्त सुरक्षित है। उस अवस्था में बाहिर से लड़ने वाली सेना की ज्यादः क्षति होती है, और वह किसी हद तक घटिया दिखाई देती है। परन्तु जब यह अवस्था आ जाये कि किले के अन्दर से लड़ने वाली सेना को किला छोड़ कर बाहिर मैदान में आना पड़े तो उस समय दोनों सेनाओं के असली बलाबल का निश्चय होता है। उस समय कभी कोई सेना जीतती हुई प्रतीत होती है, और कभी कोई। यही अवस्था मनुष्य के अपने अन्दर देवासुर संग्राम के समय होती है। जिस समय असुर बलवान होते हैं, और किले में सुरक्षित होते हैं, तो वे रात दिन देव सेना पर आक्रमण के लिये अवसर ढूंढते रहते हैं। रात्रि में तो सब देव सो जाते हैं। इस लिये उस समय उनका निष्कण्टक राज होता है। और स्वप्नादि रूपों में वे इस शरीर रूपी राष्ट्र में बहुत ऊधम मचाते हैं। परन्तु यदि देव सेना काफी निर्बल हैं तो वे दिन में भी मनुष्य को गड्ढे में गिराते रहते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य को यह चाहिये कि इन असुरों से सीधी लड़ाई न छेड़कर अपनी देव सेना को शक्तिशाली बनाये। अपनी देव सेना को शक्तिशाली बनाने के क्या उपाय हैं? यह हम वेद मन्त्रों के आधार पर आगे दिखायेंगे। जब देव सेना प्रबल होने लगती है तो स्वभावतः असुरों से लड़ाई छिड़ती है और जब ऐसी अवस्था आ जाती है कि उन्हें किलों से बाहिर आकर लड़ना पड़े तो मनुष्य के अन्दर

देवासुर संग्राम बहुत भयंकर रूप धारण करता है। कभी वासनाएँ मनुष्य को बहुत प्रबल रूप में अपनी ओर खींचती हैं तो कभी दैवी शक्ति उसे अपनी ओर खींचती है। एक समय वह देव है तो दूसरे समय वह आसुरी शक्ति के अधीन होता है। बहुत दिनों तक यही अवस्था मनुष्य की बनी रहती है। इसे आधुनिक शब्दों में जागृत समय का द्विविध मनुष्यत्व (Double Personality) कह सकते हैं। एक समय वह कामासक्त है तो दूसरे समय वह सर्वत्यागी विरही बन जाता है। इस प्रकार परिवर्तनशील अवस्थाएँ कुछ समय तक बनी रहती हैं। ज्यों २ वासनाएँ क्षीण होती जाती हैं, त्यों २ दैवी शक्ति प्रबल होती जाती है। स्थूल शरीर की दृष्टि से देखा जाये तो इसमें भी बड़े २ परिवर्तन आते हैं। इसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि जब किसी एक देश में किसी बाह्य जाति का आधिपत्य हो यदि उसे उस देश का आधिपत्य छोड़ना पड़ जाये तो वह जाति उस देश का कितना विनाश कर जाती हैं, यह हम भारतवासी अच्छी प्रकार जानते हैं। इसी प्रकार हमारे शरीर रूपी राष्ट्र में से असुरों को बाहिर निकालना पड़ जाये तो वे जाते हुए शरीर में बहुत विकार पैदा कर जाते हैं। योग साधना करते हुए कई प्रकार की बिमारियां भी आ सकती हैं। परन्तु यदि किसी दिव्य गुरु का वरद हस्त ऊपर हो तो ये सब कठिनाईयां आसानी से पार की जा सकती है।

अब विचारणीय यह है कि देव सेना को विजयी करने और असुरों को क्षीण करने के लिये क्या २ उपाय काम में लाने चाहियें। वेदों में अनेकों उपाय बताये गये हैं। अब हम क्रमशः उन उपायों को दिखाते हैं।

असुरों से वाक् युद्ध--

जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं कि वासनाओं को दबाना तो नहीं है पर उखाड़ फैंकना है। इसलिए कभी २ यह भी हो सकता है कि मनुष्य को उनका साथ देना पड़ जाये। परन्तु ऐसी अवस्था में वासनाओं के साथ सम्बन्ध सदा शल्य और कर्ण की तरह का होना चाहिए। अर्जुन के साथ युद्ध के अवसर पर शल्य ने कर्ण का सारथि बनना स्वीकार किया, परन्तु वह अपने कटु वचनों से कर्ण के उत्साह को भङ्ग करता ही रहा। इसी प्रकार मनुष्य भी वासनाओं को सदा बुरा ही कहता रहे। वेद में वल आदि असुरों से लड़ने का यह उपाय अनेकों मन्त्रों में आता है। और असुरों के साथ वाक युद्ध का वर्णन तो बहुत आता है। उदाहरण के रूप में निम्न मन्त्र (ऋ० ६।३९।२, ३।३४।१०, १।६२।४, १।६७।६) देखे जा सकते हैं। ऋ० ६।३९।२ में आता है कि--

"पणीन् वचोभिरभियोधदिन्द्रः"

इन्द्र ने पणियों से वचनो द्वारा युद्ध किया। यह एक प्रकार का वाक् युद्ध है। जिस प्रकार वाणी द्वारा स्तुति कर

भगवान् को अपने वश में किया जा सकता है, उसी प्रकार इस वाणी द्वारा पाप वासनाओं का भी विनाश किया जा सकता है। इस दृष्टि से वाणी का बड़ा महत्व है। जब २ भी वासनाओं के वेग को पूरा करना पड़े तब २ मनुष्य वेग के शान्त होने पर इन्हें खूब लताड़े, या कोई न कोई निराशा का चित्र खींच दे। ऐसा करते २ जब वासनाओं के वेग का तथा लताड़ने व निराशा का अटूट सम्बन्ध हो जायेगा तो यह निराशा का चित्र वासना के वेग के सामने भी आ खड़ा होगा। इससे वासना के वेग में उग्रता न रहेगी। और कालान्तर में जाकर इन्हें आसानी से उखाड़ा जा सकेगा। इनके दबाने से तो परिणाम यही होगा कि ये मनुष्य के अन्दर ही रहेंगी। और स्वप्नादि में या अन्य समयों में अवसर पाकर तृप्ति करती रहें या कोई बिमारी पैदा कर देवें। अथवा यह भी हो सकता है कि योग साधन रूपी मन्दिर की चिनाई शुरू करने पर न जाने कब ये फूट पड़ें और मन्दिर को ही रसातल में पहुँचा देवें। प्रकृति का यह नियम है कि जो वस्तु जितनी अधिक दबायी जाती है, वह उतना ही अधिक भड़क उठती है। इसलिए अपने अन्दर तो इन्हें किसी भी रूप में रहने देना नहीं चाहिये। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि उस तपस्वी तथा संसार त्यागी साधु से जिसने अपनी वासनाओं को उखाड़ा तो नहीं है, अपितु दबा दिया है, वह आदमी योग साधन में ज्यादः सुरक्षित है, जो

कि वासनाओं को दबाता तो नहीं, परन्तु उनको शल्य कर्षी की तरह सदा हतोत्साह करता रहता है। वासनाओं को श्रीमद्भगवद्गीता में मिथ्याचार कहा है। इसलिये वासनाओं को दबाने की अपेक्षा उन्हें उखाड़ फैंकना ज्यादः अच्छा मार्ग है।

कई मनुष्यों की ऐसी धारणा है कि अन्दर की पूर्ण शुद्धि हुए बिना योग मार्ग में नहीं चलना चाहिए। या चल नहीं सकते। यह एक अटल व स्थिर सिद्धान्त है, ऐसा हमें नहीं प्रतीत होता। आन्तरिक शोधन तो अवश्य होते रहना चाहिए, परन्तु साथ में दिव्यता प्राप्ति के भी उपाय करते रहना चाहिये। पूर्ण शुद्धि तो भगवान् के दर्शन कर लेने के बाद ही होती है। जैसा कि एक श्लोक में आता भी है कि हृदय[१] की ग्रन्थि का भेदन सर्वसंशयों का छेदन तथा कर्मों का क्षय उस भगवान् के दर्शन कर लेने के बाद ही होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भगवान् के दर्शन से पहले तक योग मार्ग में चाहे कितने ही बढ़े हुए हों, कुछ न कुछ संदेह तथा हृदय की ग्रन्थियां बनी ही रहती हैं। इन-का पूर्णरूप से विनाश तो भगवान् के दर्शन कर लेने के बाद

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ मुण्डक २। २। ८

ही होता है। इसलिये मनुष्यों को अपने आन्तरिक दोषों को देख कर हताश नहीं हो जाना चाहिये। अपनी दिव्य शक्तियों को बढ़ाने का उपाय करते रहना चाहिये। इस प्रकार सम्यक् उपाय से वे दिव्य शक्तियां बढ़ कर स्वयं उन दोषों व वासनाओं आदि का विनाश कर देंगी। इसी दृष्टि से वेद मन्त्रों में वल रूपी आवरण के विनाश के लिये कुछ साधन ऐसे भी बताये हैं जो कि गौओं (दिव्य शक्तियों) को बढ़ाने वाले हैं। उन साधनों द्वारा आन्तरिक शक्ति बढ़ कर स्वयं उस आवरण को भेदन कर बाहिर निकल आयेंगा।

वेद मन्त्र में आता है कि बृहस्पति नामक दिव्य गुरु शिष्य में 'गोवपन' अर्थात् दिव्य शक्ति का बीज बोता है (ऋ० १०।६८।३)। और फिर उसका सिंचन करता रहता है (ऋ० १०।६८।४)। और इन शक्तियों का सिंचन वह चमत्कारों व प्रकाश किरणों से करता है। उन चमत्कारों को वेद में 'उल्का' से उपमा दी है (ऋ० १०।६८।४)। जिस प्रकार आकाश से समय २ पर उल्काएँ गिरती हैं। और चारों ओर प्रकाश फैला देती हैं, उसी प्रकार गुरु द्वारा समय २ पर किये गये चमत्कार शिष्य की अन्दरुनी अन्धेरी गुफाओं में प्रकाश कर देते हैं। हम संसार म यह देखते हैं कि मनुष्य वासनाओं से तब तक छुटकारा नहीं पा सकता जब तक कि उस वासना से उत्कृष्ट संतुष्टि व आनन्द देने वाले पदार्थ की

झांकी उसे न मिल जाये। उपनिषदों में सभी भोगों व सब अवस्थाओं के आनन्द की मात्राएँ दे रक्खी हैं। परन्तु यह सब जानते हुए भी मनुष्य लौकिक आनन्द को छोड़ कर आध्यात्मिक आनन्द की तरफ तभी जाता है, जब कि लौकिक आनन्द की अपेक्षा आध्यात्मिक आनंद की अधिक उत्कृष्ट झांकी उसे मिल जाती है। इस बात को समझते हुए दिव्य गुरु भी शिष्य के प्रति समय २ पर दिव्य ज्योति फैंकता है। जिससे कि शिष्य को यह विश्वास हो जाता है कि इस लौकिक आनन्द की अपेक्षा आध्यात्मिकता का दिव्य आनन्द कहीं अधिक उत्कृष्ट है। इसलिये दिव्य गुरु द्वारा शिष्य के प्रति फैंकी गई दिव्य ज्योति शिष्य की दिव्य शक्तियों के लिए जीवनीय रस का काम देती है इसलिये दिव्य गुरु की यह चमत्कृति भी प्रमुख रूप से शिष्य की अन्दर छिपी शक्तियों को ही बढ़ाने वाली हैं। आगे एक मन्त्र (ऋ० १०।६८।४) में आता है कि जिस प्रकार पक्षी अण्डे को सेकता रहता है, और उस सेकने से अन्दर का गर्भ परिपुष्ट होकर समय पर आकर उस अण्डे को फोड़ देता है, और पक्षी रूप में वह बाहिर निकल आता है, उसी प्रकार वह बृहस्पति नामक दिव्य गुरु शिष्य की आन्तरिक शक्तियों को सेकता रहता है। जब वे शक्तियां वृद्धि को प्राप्त होती हैं तो स्वयं उस वासना रूपी घेरे को फोड़ देती हैं। इससे यह

स्पष्ट है कि जिस प्रकार अण्डे के ऊपर के आवरण को अ-परिपक्वावस्था में नहीं फोड़ना चाहिये। उसी प्रकार मनुष्य को यह चाहिये कि वह वासनाओं को सीधा न छेड़ कर पहले आंतरिक दिव्य शक्तियों को खूब बढ़ावे। इस प्रकार समय पर आकर वे शक्तियां स्वयं उस वासना के घेरे को भेदन कर बाहिर आ जायेंगी। एक मन्त्र (ऋ० १०।६८।५) में एक उपाय और बताया है, और वह यह है कि जैसे वायु अपने झोंकों से बादलों को घेर लाती है, उसी प्रकार मनुष्य को यह चाहिये कि जिस समय वासना का वेग, प्रभाव आदि कुछ न हो, और मनुष्य का मन शांत हो तो उस समय खूब जोर के चिन्तन रूपी झोंके के प्रभाव से दिव्य शक्तियों को बाहिर निकालने का प्रयत्न करे। मन्त्र में इस चिन्तन के झोंके को 'अनुमृश' कहा गया है। 'अनुमृश' का भाव है बार २ चिन्तन करना और जोर का चिन्तन करना। पातञ्जल योग दर्शन की परिभाषा में इस अनुमृश को हम 'तीव्र संवेग' कह सकते हैं। अर्थात् जिस प्रकार तीव्र संवेग से समाधि आदि सिद्धियां शीघ्र प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार 'अनुमृश' अर्थात् तीव्र चिन्तन भी आंतरिक शक्तियों को बाहिर निकालने में अत्यधिक शक्तिशाली साधन है। ऋ० १०।६८।४ में उन दिव्य शक्तियों के आवरण को फोड़ कर बाहिर निकलने की एक उपमा यह दी है कि जिस प्रकार पानी पृथिवी की ऊपर

की सतह को फोड़ कर बाहिर निकल आता है, उसी प्रकार दिव्य गुरु भी शिष्य के ऊपर के आवरण को फोड़ देता है, और शक्तियां बाहिर निकल आती हैं। इस प्रकार उदाहरण के रूप में एक प्रकार के ये उपर्युक्त कुछ उपाय दिव्य शक्तियों को वासना के घेरे से बाहिर निकालने के लिए वेद मन्त्रों में से हमने यहां दिखावे। इन उपायों द्वारा आन्तरिक्त दिव्य शक्तियां वृद्धि को प्राप्त हो कर अपने २ आवरणों को स्वयं विनष्ट कर देंगी।

दूसरे प्रकार के उपाय वे हैं जिनमें गोओं को घेरने वाले आवरणों पर प्रहार करने का विधान है। इस वल रूपी वासना को एक वार में ही उखाड़ा नहीं जा सकता। इसलिये वासना के विनष्ट करने के लिये जो भी उपाय किए जाते हैं, उनका कार्य व प्रभाव कालान्तर में जाकर ज्यादः स्पष्ट होता है। एक मन्त्र (ऋ० १० । ६८ । ८) में आता है कि जिस प्रकार लकड़ी को छीलछाल कर चम्मच बनाया जाता है, उसी प्रकार उपरी आवरण को शनैः २ छील कर आवरण को पूर्णतया नष्ट किया जा सकता है और इन्द्रियों का दिव्य रूप प्रकट हो सकता है। इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि वल रूपी वासना इन्द्रियों से ऐसी चिपटी होती है कि मानों इन्द्रियां व वासना एक ही हों। एक प्रकार से वासना जमते २

इन्द्रियों का ही एक अवयव बन जाती हैं। इस वासना को एक मन्त्र (ऋ० १०।६८।६) में बृहस्पति द्वारा भस्म करने का विधान मिलता है। मन्त्र में आता है कि बृहस्पति अपनी आन्तरिक अग्नि से परितप्त आंख की ज्योति से शिष्य के वल रूपी आवरण को भस्म कर देता है। इस लिये इस बात को अवश्य याद रखना चाहिए कि दिव्य गुरु की दिव्य दृष्टि अध्यात्म मार्ग में चलने वाले के सब विघ्न बाधाओं को विनष्ट कर सकती है। महोपनिषत्[1] ४।११७ में आता है कि मन रूपी व्योम में फैली हुई वासना रूपी रात्रि का यदि थोड़ा सा भी अन्धकार क्षीण हो जाये तो चित् रूपी आदित्य के प्रकाश से मन की कालिमा क्षीण हो जाती है।

गुरु की दिव्य दृष्टि भी शिष्य के मन रूपी अन्धेरे आकाश में चित् रूपी आदित्य के समान प्रकाश करने वाली होती है।

वल रूपी आवरण को विनाश करने का एक और तरीका एक मन्त्र (ऋ० १०।६८।५) में बताया गया है। वह यह कि मन को सदा गतिमय रक्खे। खाली व सुस्त न बैठने देवे। मन्त्र में कहा गया है कि जिस प्रकार ठहरे हुए पानी में शैवाल अर्थात् काई जम जाती है। उसी प्रकार मनुष्य के आलसी मन में मैल जम जाती है। जिस प्रकार पानी की

---

१ मनागपि मनो व्योम्नि वासना रजनीक्षये।
कालिका तनुतामेति चिदादित्यप्रकाशनात् ॥

शैवाल को दूर करने के लिए वायु का झौंका पानी को गतिमय कर देता है, इससे पानी में लहरें पैदा हो जाती हैं और शैवाल किनारे पर आ जाती है। इसी प्रकार मन को गतिमय रखने से मन की मैल भी ऊपर उभड़ आयेगी। मैल के ऊपर उभड़ आने पर उसको आसानी से दूर किया जा सकता है। यहां इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि मन को गति देनी है, शरीर को नहीं। मन की गति से यह आवश्यक नहीं कि शरीर भी गतिमय हो जाये। विचार प्रवणता तथा बौद्धिक कार्यों में मन व बुद्धि आदि गतिमय होते हैं शरीर नहीं। कई व्यक्ति कठोर व उग्र तपस्या से शरीर को सुखा देते हैं, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती। यह तो शरीर का शोषण है जिस की महाभारत आदि ग्रन्थों में निन्दा की गई है। और फिर शरीर के शोषण करने व सदा गतिमय रहने से यह आवश्यक नहीं कि मन भी गतिमय हो या उस गतिवाला हो जो कि योग में अभीष्ट है। हम संसार में जितने भी मनुष्य देखते हैं जिनका कि उद्देश्य रात दिन भोग सामग्री जुटाना है, उनका शरीर व प्राण निरन्तर गतिमान् होते हुए भी मन अभीष्ट गतिवाला नहीं होता। और उनके मन में जो गति होती भी है, वह नीचे प्राण व शरीर की तरफ गिरने की होती है। क्यों कि मन के नीचे प्राण व शरीर हैं। परन्तु मन्त्र में जो गति बतायी गई है, वह लहरों की तरह बतायी गई है। लहरों में पानी ऊपर को उठता है और आगे को भागता है। स्वभाव

के अनुसार पानी नीचे को आया। हवा ने फिर धक्का दिया, वह फिर ऊपर उठा। इसी प्रकार पानी में गति होती रहती है। यही गति मन में भी होती है और जब मैल को दूर करना हो तो यही गति करनी अभीष्ट है। मनुष्य का मन स्वभावतः नीचे जाने वाला होता है। प्राणायाम तथा आन्तरिक धक्के से मन को गति देते रहना चाहिए। बल रूपी वासना को विनष्ट करने का एक तरीका (ऋ० १०।६८।१०) यह भी बताया है कि जिस प्रकार सरदियों में पहाड़ों पर बर्फ पड़ कर पेड़ पौधों व पत्तों को विनष्ट कर देती है जिससे कि गौ आदि पशु भूखे मर जाते हैं। इसी प्रकार इन्द्रियां गौएँ हैं, और उनके भोग एक बीहड़ जंगल हैं, जिसमें कि बल असुर उन्हें चराता फिरता है। यदि इन्द्रिय-विषयों पर बर्फ पड़ जाये तो यह बलासुर भूखा रहने के कारण शिथिल हो जायेगा और इन्द्रियों को अपने पाश से छोड़ देगा। परन्तु प्रश्न यह है कि इन इन्द्रिय सम्बन्धी भोगों पर बर्फ का काम कौन करे ? इस सम्बन्ध में मन्त्र (हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिना कृपयद्बलो गाः। ऋ० १०।६८।१०) में आता है कि दिव्य गुरु की दिव्य शक्ति ही बर्फ का काम देती है। गुरु की शक्ति से वह अवस्था पैदा हो सकती है कि विषयों में आनंद ही न आवे। इस प्रकार मनुष्य का बलासुर से छुटकारा हो सकता है। एक तरीका मन्त्र (विभिद्या पुरं शयथा० ऋ० १०।६७।५) में यह भी दिया है कि रात्रि को सोते हुए

इन असुरों पर प्रहार करना चाहिये। क्योंकि रात्रि में ही इन असुरों की नगरी का दरवाजा खुलता है। रात्रि को सोते हुए किस प्रकार प्रहार किया जा सकता है? यह विचारणीय विषय है। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मैस्मरेजम व हिप्नोटिज्म में सुलाकर बहुत कुछ प्रभाव डाला जाता है। बिमारियां आदि दूर की जाती हैं। इसी प्रकार बृहस्पति समान दिव्य गुरु सोते हुए शिष्य पर बहुत अधिक प्रभाव डाल सकता है। और स्वयं मनुष्य भी सोने से पूर्व जैसा संकल्प करके सोएगा, वैसा प्रभाव होगा। यदि ओ३म् का जप करते २ सो जावें तो यह 'ओ३म्' ही दण्ड धारण करके खड़ा हो जायेगा। और जो असुर अपनी नगरी से बाहिर निकलेगा, उसे मारेगा। और शनैः २ प्रबल होकर यही ओ३म् असुरों की नगरी को भेदन कर देगा।

इस प्रकार उदाहरण के तौर पर संक्षेप में हमने वल अर्थात् दिव्य ज्ञान पर आयी वासना के विनाश के कुछ उपाय मन्त्रों के आधार पर दिखाये। और भी कई प्रकार के उपाय हो सकते हैं। मनुष्यों को यह चाहिये कि वे अपनी २ प्रकृति के अनुसार उपायों का अवलम्बन कर आवरण का विनाश कर दिव्य ज्ञान का आविर्भाव करें। अब हम वासना-विनाश के कुछ उपायों पर विस्तार से विचार करते हैं।

—०—

पञ्चम अध्याय

वल-विनाश में स्वर का स्थान

वल विनाश में स्वर का बड़ा भारी स्थान है। वह किस प्रकार है यह सिद्ध करने के लिये हमें स्वर पर विस्तृत विचार करना पड़ेगा।

स्वर में अनन्त शक्तियां हैं, ऐसा वैदिक शास्त्र प्रतिपादन करते हैं। गौतमीयतन्त्र में एक स्थल पर आता है—

व्यापिनीर्व्योमरूपाः स्युरनन्ताः स्वरशक्तयः।
(६। २६)

'स्वर की शक्तियां अनंत हैं और आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त होने वाली हैं।'

इससे यह स्पष्ट है कि शास्त्रों में स्वर के अन्दर बड़ी भारी शक्तियां मानी गयी हैं। वे शक्तियां क्या हैं?

और कैसे प्राप्त की जा सकती हैं ? इत्यादि बातों को आज हम भुला चुके हैं। इस लेख में सामान्य स्वर पर विचार न करके संगीत सम्बन्धी स्वर पर ही विचार किया जायेगा। वैदिक साहित्य में स्वर शब्द का प्रयोग मुख्यतया संगीत-स्वर में ही किया गया है। और सामवेद में तो स्वर से तात्पर्य सङ्गीत के स्वर से ही है। सङ्गीत के स्वर में सामान्य शब्द की अपेक्षा बड़ी भारी शक्ति होती है। मनुष्य पर तो संगीत का प्रभाव स्पष्ट ही है; परन्तु मनुष्येतर प्राणियों पर भी इसका बहुत प्रभाव होता है। सङ्गीत का अच्छा विशेषज्ञ, विशेषकर मधुर स्वर वाला व्यक्ति जब चाहे, श्रोताओं को रुला दे. हंसा दे, उनमें वीरभाव भर दे अथवा दिव्य शान्ति पैदा कर दे, यह उसके अपने हाथ में होता है। कारण यही है कि स्वर के द्वारा वह सबके मनों को सहज ही अपने वश में कर लेता है। इस सम्बन्ध में हमें इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि परस्पर के वार्तालाप और उपदेश आदि में वह प्रभाव नहीं है जो संगीत में है।

संगीत में दो प्रकार की शक्तियां काम करती हैं—एक तो मनुष्य की अपनी आंतरिक शक्ति और दूसरी स्वर की शक्ति। स्वर आंतरिक शक्ति को बाहर फेंकने का

एक साधन है, और इतना शक्तिसम्पन्न साधन है कि वह आंतरिक शक्ति को कई गुना बढ़ा कर बाहर फेंकता है। इस बात को हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि कोई कवि जब अपने आन्तरिक भावों को सामान्य रूप से पढ़ कर श्रोताओं पर बिखेरता है, तो वे इतने प्रभावशाली नहीं होते, जितने कि मधुर ध्वनि से गाने पर होते हैं। इसमें कारण यही है कि आन्तरिक भावों की शक्ति को स्वर कई गुना बढ़ा देता है। स्वर द्वारा शक्ति को अधिक से अधिक कितना बढ़ाया जा सकता है, यह बहुत कुछ स्वर यन्त्र पर भी आश्रित है। जिसका स्वर बहुत मीठा तथा शक्तिसम्पन्न है, वह अपने भावों को अधिक प्रभावशाली बना सकेगा। प्रायः यह देखा जाता है कि पतिताचरण वाले व्यक्ति के कण्ठ में भी यदि सरस्वती मधुर वीणा लिये स्वयं विराजमान होती है, तो वह जिस किसी भी भाव को श्रोताओं पर फेंकता है, उसका बहुत अधिक प्रभाव होता है। और यदि वह कुछ क्षण के लिये भी अपने आंतरिक चित्रपट को पवित्र बना कर गाये तो वह एक साधु आचरण वाले संगीतज्ञ की अपेक्षा, जिसका कण्ठ उतना मधुर नहीं है, कहीं अधिक प्रभाव डाल देगा। इसका कारण यही है कि आंतरिक भावों को अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाने में स्वर एक बहुत बड़ा साधन है। यदि हम और भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो हमें यह मानना पड़ता है कि स्वर स्वयं एक स्वतन्त्र शक्ति भी है, और यही

असली शक्ति है। कोई व्यक्ति गायी जाती हुई किसी कविता के भावों की उपेक्षा करके केवल स्वर से ही प्रभावित हो सकता है। जितने भी वाद्ययन्त्र हैं, उनमें तथा तान, आलाप आदि में कोई स्पष्ट भाव नहीं होता, परन्तु मनुष्य इनसे सब-से अधिक प्रभावित होता है। रणस्थली में जब मिलिटरी का बैंड बजता है, तो शूरवीर योद्धाओं के अंग फड़कने लगते हैं। वीणा की मधुर ध्वनि जब सुनायी पड़ती है, तो चारों ओर दिव्य शांति का साम्राज्य छा जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि बिना स्पष्ट भावों के भी स्वर स्वयं एक बड़ी भारी शक्ति है। यह तो हमने स्वर के ऊपर सामान्य विचार प्रकट किये। अब वैदिक शास्त्रों के आधार पर इस सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट करते हैं।

वैदिक शास्त्रों में स्वर को इतनी बड़ी शक्ति माना गया है कि वह मनुष्य की प्रच्छन्न तथा गुहानिहित दिव्य शक्तियों को बाहर प्रकाश में ला देता है। स्वर (संगीत) का आदिस्रोत सामवेद माना गया है। वेदों में सामवेद की पृथक् सत्ता इसी स्वर के कारण है। और फिर 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' इस गीता वाक्य द्वारा सामवेद की वेदों में सर्वोत्कृष्ट स्थिति मानी गयी है। सामवेद की यह सर्वोत्कृष्ट स्थिति भी स्वर के कारण ही है। इन उपर्युक्त बातों की पुष्टि के लिये हमें साम शब्द पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिये। सामवेद

कि प्रायः सम्पूर्ण मन्त्र ऋग्वेद से आये हैं तो फिर प्रश्न होता है कि सामवेद का ऋग्वेद से क्या भेद है ? इसके उत्तर में एक शब्द में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि वह भेद साम अर्थात् सङ्गीत का ही है। आजकल जो सामवेद का प्रकाशन किया जाता है, वह सामवेद नहीं है। यह तो ऋग्वेद के ही कुछ मन्त्रों को दुबारा छाप दिया जाता है। जिन मन्त्रों को आजकल सामवेद नाम दिया जाता है, उनको यदि हम उपमा देना चाहें तो यह कह सकते हैं कि जैसे किसी के दम्पत्ती कहने पर वहां पत्नी को तो सामने लाया जाय और पति को न लाया जाय। जिस प्रकार दम्पत्ती शब्द में पति और पत्नी पृथक् नहीं हो सकते, दम्पत्ती कहने से दोनों का ग्रहण होता है, उसी प्रकार सामवेद से कहे जाने वाले मन्त्रों में ऋचा और स्वर को पृथक् नहीं कर सकते। ऋचा और स्वर दोनों जिसमें होंगे, वही सामवेद कहला सकता है। जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण (१। ६। १। ८--१०) में बिना स्वर के मन्त्रों को साम नहीं माना है। और कथानक द्वारा समझाते हुए उस सिद्धान्त का खण्डन किया है जो बिना स्वर के मन्त्रों को साम कहते हैं। वह कथानक इस प्रकार है—

अथेतरे देवा अन्तरिता इवासन्। त इन्द्रमब्रुवन् तव वै वयं स्मोऽनु न एतस्मिन् सामन्नाभजेति। तेभ्यः स्वरं

प्रायच्छत् तं प्रजापतिरब्रवीत् कथेत्थमकः । सर्वं वा एभ्यः साम प्रादाः । एतावद्वाव साम यावान् स्वरः । ऋग्वा एष ऋते स्वराद्भवति ।

'इसके अनन्तर अवशिष्ट देव दुखी से हुए। वे इन्द्र से बोले कि हम भी तो तुम्हारे हैं। हमें भी इस साम में कुछ भाग दो। इन्द्र ने उनको स्वर दे दिया। प्रजापति ने इन्द्र से कहा कि तुमने यह क्या किया ? इन देवों को तो तुमने सम्पूर्ण साम दे दिया; क्योंकि जितना स्वर है उतना ही तो साम है, बिना स्वर के तो यह साम ऋक् ही होता है।'

इस उपर्युक्त प्रकरण से भी यह स्पष्ट है कि बिना स्वर के मन्त्रों को साम नहीं कहा जा सकता। दूसरे शब्दों में बिना स्वर के साम का नाम ही नहीं लेना चाहिये।

साम शब्द भी दो शब्दों से मिल कर बना है, उनमें एक शब्द स्वर के लिये आया है और दूसरा ऋक् के लिये। अथर्व १४।२।७१ में आता है कि 'अमोऽहमस्मि सा त्वम्' अर्थात् मैं अम (स्वर) हूँ और तू सा (ऋक्) है।

अर्थात् 'ऋक् और स्वर के मेल में ही साम का सामत्व समझना चाहिये।' इसलिये केवल मन्त्रों को साम नहीं कहते।

'सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्।'

(बृहदारण्यक० १।३।२२)

ऋचा और स्वर दोनों के मेल को साम कहते हैं।

साम में स्वर की प्रमुखता--

हम ऊपर यह देख चुके हैं कि ऋक् (मन्त्र) और स्वर इन दोनों के मेल को साम कहते हैं, परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि ऋक् और स्वर इन दोनों के मेल में भी प्रमुखता स्वर की है। साम में ऋक् की वही स्थिति है जो कि भिन्न-भिन्न रागों में कविता की होती है। जिस प्रकार कविता राग नहीं है, उसी प्रकार ऋचा साम नहीं है।

इसी दृष्टि से जैमिनि[1] ऋषि साम-संज्ञा गान अर्थात् स्वर में मानते हैं, ऋचा में नहीं। छान्दोग्योपनिषत्कार[2] इसी बात को और स्पष्ट शब्दों में प्रश्नोत्तर रूप में लिखते हैं कि 'साम की गति क्या है ?' उत्तर दिया कि 'स्वर है।' बृहदारण्यकोपनिषत्कार[3] भी स्वर के सम्बन्ध में इस प्रकार कहते हैं कि 'जो साम के स्वरूप को जानता है, वह स्वरूप उस जानने वाले का हो जाता है। साम का वह रूप स्वर है।'

इस प्रकार प्राचीन ऋषि और उपनिषत्कार आदि साम का स्वरूप और सार्थकता स्वर में मानते हैं, ऋचा में नहीं।

---

१. गीतिषु सामाख्या (२।१।३६)
२. का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच (१।८।४)
३. तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद। भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वम् (१।३।२५)

इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि साम में ऋचा और स्वर दोनों होते तो हैं, परन्तु इन में प्रमुखता स्वर की है। इस लिये यदि हम सामवेद को दूसरे शब्दों म 'स्वरवेद' कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। आगे वैदिक साहित्य में हम स्वर की प्रमुखता को इतनी बढ़ी हुई देखते हैं कि कई स्थलों पर साम में ऋचा को छोड़ ही दिया गया है। ऐसे कई संकेत आते हैं कि जहां बिना ऋचा के भी साम का वर्णन आता है। और वह बिना ऋचा का साम स्वर ही है। आधुनिक परिभाषा में इसे तान या आलाप कह सकते हैं। तान या आलाप में कोई व्यक्त शब्द नहीं होता है। और वैदिक परिभाषा की दृष्टि से कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि तान या आलाप में कोई ऋचा नहीं होती है। क्योंकि वैदिक साहित्य में ऋचा और साम का भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में ऐसा खुलकर प्रयोग हुआ है कि ये दो शब्द वेदों तक ही सीमित न रहे। प्राचीन ऋषियों ने समय-समय पर वेदों के अतिरिक्त अन्य जो भी रचनाएँ कीं उन्हें भी मन्त्र कहा जाता रहा और जो रचनाएँ गानात्मक हुईं उन पर सामगान होता रहा। इस प्रकार वैदिक साहित्य में ऋक् और साम शब्दों का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों में तथा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में हुआ है। इसी प्रकार आधुनिक संगीत के राग और कविता शब्दों को यदि हम वैदिक नाम देना चाहें तो राग को 'साम' कह सकते हैं और कविता को 'ऋक्'। और इसी प्रकार भिन्न-भिन्न रागों को भिन्न-भिन्न सामों में

समाविष्ट कर सकते हैं। यह कहां तक सम्भव है और कहां तक नहीं, इस सम्बन्ध में विद्वानों को विचार करना चाहिये।

स्वर में दो प्रकार की शक्तियाँ--

गौतमीय तन्त्र में तो स्वर के अन्दर अनन्त शक्तियां बतायी गयी हैं; परन्तु हम यहां पर स्वर की दो प्रकार की शक्तियों पर ही विचार करते हैं।

१. स्वर में एक शक्ति यह है कि मनुष्य साम अर्थात् स्वर द्वारा नाना प्रकार के रोगों और कष्टों को दूर कर सकता है।

२. दूसरी शक्ति यह है कि वह अपने अन्दर निहित प्राणशक्ति, मनःशक्ति तथा अन्य अनेक दिव्य शक्तियों को बढ़ा भी सकता है।

अब हम क्रमशः स्वर की इन दोनों शक्तियों पर संक्षेप में विचार करते हैं।

स्वर द्वारा रोग निवारण--

स्वर में रोग-निवारक की शक्ति है, ऐसा वैदिक शास्त्र प्रतिपादन करते हैं; परन्तु प्रश्न यह है कि स्वर रोगों को कैसे दूर कर देता है। इसके उत्तर में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन आयुर्वेद में रोगों की उत्पत्ति में कारण वात, पित्त और कफ—इन तीनों धातुओं की विषमता को बताया गया है। जब तक ये तीनों सम अवस्था में रहते हैं तब तक

मनुष्य स्वस्थ और नीरोग रहता है; परन्तु जब इनमें विषमता पैदा हो जाती है तब बीमारियां मनुष्य को आ घेरती हैं। इस प्रकार इनका वैषम्य रोगों की उत्पत्ति में कारण बनता है। अब विचारणीय यह है कि इन वात, पित्त तथा कफ आदि धातुओं का वैषम्य किन कारणों से होता है?

इन धातुओं के वैषम्य में कई कारण होते हैं; परन्तु सब से प्रमुख कारण मन की अशान्तता तथा क्षुब्धता आदि हैं। जिन मनुष्यों का मन चिन्ता, शोक, काम. क्रोध आदि आवेगों के कारण अशान्त और क्षुब्ध रहता है उनकी इन तीनों धातुओं में विषमता आ जाती है। और इससे उन मनुष्यों को बीमारियां आदि कष्ट बहुत शीघ्र आ घेरते हैं। संगीत मनुष्य के मन को शान्त करता है। संगीत के समय काम-क्रोध आदि आवेग सब शान्त हो जाते हैं। और इनके शान्त होने पर मन भी शान्त हो जाता है। मन के शान्त होने पर वात-पित्तादि दोषों से भी विषमता जाती रहती है और उनमें साम्यावस्था पैदा हो जाती है। इससे सब बीमारियां शान्त होती जाती हैं और मनुष्य नीरोग एवं स्वस्थ हो जाता है। इस प्रकार निरन्तर स्वर-साधना करते रहने से चिरकाल से रोगाक्रान्त मनुष्य भी अपने आपको नीरोग और स्वस्थ बना सकता है। इसी बात को दृष्टि में रख कर प्राचीन ऋषियों में पुरानी से पुरानी बीमारियों को दूर करने के लिये भिन्न-भिन्न साम

बताये हैं। ब्राह्मणादि[1] ग्रन्थों में ऐसे प्रकरण आते हैं जिन में पुराने रोगों को दूर करने के लिये भिन्न-भिन्न सामों का प्रयोग बताया गया है। आजकल पाश्चात्य जगत् में भी बीमारियों को दूर करने के लिये संगीत का बहुत प्रयोग होने लगा है। हमें यह भी चाहिये कि रोगों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के सामों का निरन्तर प्रयोग करके अपनी प्राचीन पद्धति का उद्धार करें।

स्वरद्वारा शक्तियों की वृद्धि--

अब विचारणीय यह है कि मनुष्य स्वर द्वारा शक्ति की वृद्धि और नाना प्रकार की दिव्य शक्तियों को कैसे प्राप्त कर सकता है? इसको समझने के लिये हमें शक्ति के सिद्धान्त पर कुछ विचार करना चाहिये। संसार में हम जितने भी जीवनीय शक्ति वाले पिण्ड देखते हैं उनमें उनके केन्द्रों में शक्ति रहती है। शरीर एक जीवित पिण्ड है, इसके केन्द्रगत हृदय में शक्ति रहती है। अर्थात् हृदय शक्ति का भण्डार है इसी से ही शरीर में सर्वत्र शक्ति पहुँचती है। यह शरीर भी

---

१. त्रैशोकं ज्योगामयाविने ब्रह्मसाम कुर्यात्।

(तां० ब्रा० ८।१।८)

प्राणापानौ वै बृहद्रथन्तरे (साम) ज्योगामयाविन उभे कुर्याद् प्रक्रान्तौ वा एतस्य प्राणापानौ यस्य ज्योगामयति प्राणापानावेवास्मिन् दधाति। (तां ब्रा० ७।६।१२)

करोड़ों जीवाणुओं (Cells) से मिलकर बना है। यह जीवाणु भी शरीर का एक जीवित इकाई है। इस जीवाणु के भी केन्द्र (Nucleus) में शक्ति रहा करती है, वहां से ही जीवाणु में चारों ओर शक्ति पहुँचती है। इसी प्रकार सौर-मण्डल में सूर्य एक केन्द्रगत शक्ति है। ये सब ग्रह-उपग्रह इसी सूर्य से शक्ति प्राप्त करते हैं। वनस्पति जगत् में औषधि वनस्पति आदि जितने भी प्राण शक्ति सम्पन्न तत्त्व हैं, उनके भी केन्द्र में शक्ति हुआ करती है। इससे यह सिद्धान्त निकाला जा सकता है कि शक्ति सदा केन्द्र में रहा करती है और वहीं से वह शक्ति चारों ओर जाती है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि वह शक्ति केन्द्र में से जब चारों ओर जायगी तो वह अवश्य क्षीण होगी। इस लिये विचारणीय यह है कि उस केन्द्रगत शक्ति के भण्डार को किस प्रकार बढ़ाया जाय और पूरा भरा रक्खा जाय ? प्राकृतिक जगत् में तो इस कमी को दूर करने के लिए भगवान् ने आवागमन का नियम बना रक्खा है। शरीर में रक्त-संस्थान, श्वास-संस्थान आदि में आवागमन लगा हुआ है। रक्त आदि के बाहर शरीर में चारों ओर जाने से शक्ति क्षीण हुई तो फिर केन्द्र में लौट कर आने से पुनः शक्ति मिल गयी। सूर्य जो प्राण शक्ति पृथ्वी आदि को देता है, वह फिर ले भी लेता है। इसी कारण पानी और औषधियों तथा वनस्पतियों आदि के रस सूख जाते हैं। इस प्रकार प्राकृतिक क्षेत्र में तो जो शक्ति अपने शक्ति के केन्द्र से

बाहर जाती है वह फिर किसी न किसी प्रकार लौट आती है। अथवा शक्ति के केन्द्र में जाने से शक्ति पुनः मिल जाती है। परन्तु जो मनुष्य अपनी प्राणिक, मानसिक और आत्मिक शक्ति को सदा बाहर की ओर ही फेंकते रहते हैं, और कभी भी मन रूपी केन्द्रगत शक्ति की ओर जाने का अर्थात् प्रत्याहार का अभ्यास नहीं करते, उनकी ये शक्तियां क्षीण होती रहती हैं। ऐसी क्षीण शक्ति वाले मनुष्य पापादि असुरों और रोगों का सामना नहीं कर सकते। परन्तु जो मनुष्य सदा अपने को मन या आत्मा रूपी केन्द्र में रखने का प्रयत्न करते रहते हैं, दूसरे शब्दों में अपने मन को एकाग्र रखने का प्रयत्न करते हैं, वहां केवल पाप और रोग ही दूर नहीं होते, अपितु अन्य अनेक आन्तरिक दिव्य शक्तियां भी वृद्धि को प्राप्त होती हैं। अतएव शक्ति की प्राप्ति के लिये आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य अपने आप को बाहिर न फेंक कर अन्दर ही केन्द्रित करे, एकाग्र करे। शक्ति प्राप्ति के लिये एकाग्रता अत्यन्त आवश्यक है। प्रकृति के क्षेत्र में जितने भी आविष्कार हुए हैं, वे सब एकाग्रता से ही हुए हैं। यह एकाग्रता मनुष्य की यहां तक बढ़ सकती है कि शरीर होते हुए भी शरीर का भान न हो और समाधि अवस्था पैदा हो जाय। इस अवस्था की प्राप्ति के लिये जहां अन्य कई साधन हैं, वहां स्वर भी एक बड़ा भारी साधन है। मन को एकाग्र करने या लीन करने में 'स्वर' की महान् शक्ति को उपनिषदों ने भी स्वीकार किया है।

त्रिपुरतापिन्युपनिषद्[1] ५।७ में आता है कि योगी स्वर द्वारा अपने चित्त को सम्यक् प्रकार से लीन कर दे अथवा स्वरद्वारा[2] योग का सन्धान करे। भाव यह है कि चित्त के लय में स्वर एक बहुत बड़ा साधन है। जब स्वर द्वारा मनुष्य का चित्त एक वस्तु में या शरीर के किसी भी एक स्थान पर केन्द्रित हो जाता है, तब वह कई गुना शक्ति शाली होकर उस वस्तु और शरीर-स्थान पर प्रभाव डालता है। शरीर के अन्तश्चकों को को खोलना इसी तरह से बन सकता है कि वहां मन को ध्यान के द्वारा केन्द्रित किया जाय। मन के इस केन्द्रीकरण में स्वर एक बहुत बड़ा साधन है। इस दृष्टि से शक्ति की वृद्धि और दिव्य शक्तियों की प्राप्ति में स्वर एक बहुत बड़ा साधन है।

वेदों में भी स्वर की बड़ी महिमा गायी गयी है। उदाहरण के लिये कुछ मन्त्र इस प्रकार हैं—

स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः ।

(ऋ० ८।३३ २)

'सब के अन्दर बसने वाले हे भगवन्! अपना उत्थान करने वाले मनुष्य हृदय-गुहा से बाहर निकलने के लिये तेरे प्रति भक्ति रस का सिञ्चन करते हुए स्वर लगाते हैं।'

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि हृदयस्थ गुहा में निहित

---

१ स्वरेण सल्लयेद् योगी। (त्रिपुरतापिन्युपनिषद् ५।७)
२ स्वरेण सन्धयेद् योगम्। (ब्रह्मबिन्दूपनिषद् ७)

आत्मा को बाहर निकालने के लिये वेद मन्त्र स्वर लगाने का विधान करता है। ऋ० ५। ५४। १२ में एक मन्त्र आता है जिसमें यह बताया गया है कि इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक घोष अर्थात् शब्द हो रहा है और वह सर्वत्र फैला हुआ है। जो मनुष्य ऋत के अभिलाषी हैं अर्थात् दिव्य ज्ञान के इच्छुक हैं और अध्यात्म में विचरते हैं, वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैले हुए घोष को स्वरयुक्त करते रहते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

स्वरन्ति घोषं विततं ऋतायवः। (ऋ० ५। ५४। १२)

'ऋत की कामना वाले आध्यात्मिक पुरुष इस ब्रह्मांड में सर्वत्र फैले हुए घोष को स्वरयुक्त करते हैं।'

मानो इस सम्पूर्ण ब्रह्मांड में सर्वत्र वीणा की तन्त्रियां लगी हुई हैं। पहली तन्त्री को हम टकोर देते हैं तो क्रमशः सब तन्त्रियां बजती चली जाती हैं, और वह वीणा का शब्द अनंत दूरी तक जा पहुँचता है। यदि आलङ्कारिक भाषा में हम कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि अनन्त दूरी पर बैठे हुए किसी भी देवता के पास हम अपनी स्तुति पहुँचाना चाहें तो वह आसानी से पहुँच सकती है। इसी कारण भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन के लिये भी एक वेद मन्त्र में स्वर को भी एक साधन बताया है। मन्त्र इस प्रकार है—

अभि स्वरन्ति बहवो मनीषिणो राजानमस्य भुवनस्य निंसते।

(ऋ० ६। ८५। ३)

'बहुत से मनीषी पुरुष इस भुवन के राजा भगवान् की ओर स्वर लगाते हैं और इस प्रकार उसे प्राप्त करते हैं।'

इस प्रकार वेदों में अध्यात्म में विचरने तथा भगवान् की प्राप्ति में स्वर को बहुत बड़ा साधन बताया है। यह स्वर इस प्रकार कार्य करता है कि मनरूपी विद्युत्-पुञ्ज से जो किरणें बाहर निकलती हैं उनको वह स्वर घनीभूत करता है। और जिस लक्ष्य पर ये किरणें फेंकी जाती हैं, वहां उन्हें केन्द्रित कर देता है। एवं उन मानसिक किरणों के प्रहार को बहुत तीव्र और लम्बा कर देता है। जो मनुष्य भगवान का थोड़ी देर ही ध्यान कर पाता है, भगवान् पर जिसका ध्यान टिकता नहीं, वह मनुष्य स्वर के द्वारा ध्यान को ज्याद: देर टिका सकता है। इसी प्रकार शरीर में जहां भी ध्यान टिकाना हो वहां यदि साथ में मुँह से स्वर भी निकलता हो तो ध्यान ठीक होगा। और अधिक देर तक हो सकेगा। इसी प्रकार आत्मिक शक्तियों को घेरने वाला हमारे अंदर जो वासनारूपी बलासुर विद्यमान है। इस बल-रूपी असुर पर मनरूपी विद्युत् का प्रहार स्वर द्वारा तीव्र से तीव्रतम किया जा सकता है। और यह यह बलासुर भग्न हो सकता है, तथा इस प्रकार आत्मिक दिव्य शक्तियां प्रकट हो सकती हैं।

बिना ऋचा (कविता) का साम (स्वर)
अर्थात् तान-आलाप आदि

वैदिक शास्त्रों[1] में स्वर और साम का आधार जिस पर कि सामगान होता है—ऋचा को बताया गया है। ऋचाओं पर स्वर अर्थात् सामगान होने पर वे ऋचाएँ शक्ति पैदा करने वाली शक्ति के केन्द्र बन जाती हैं; परंतु यह याद रखना चाहिये कि सामगान में स्वर से तात्पर्य उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इत्यादि से नहीं है। संगीत में जो सप्त स्वर प्रयुक्त होते हैं वे ही स्वर सामगान में भी हैं। यों ही बिना स्वर के मन्त्र पढ़ लेने पर उनमें वह शक्ति नहीं। परंतु स्वर द्वारा सामगान करने पर वे ही मन्त्र शक्ति देने वाले शक्ति के एक केन्द्र बन जाते हैं। इसलिये मन्त्रों (ऋचाओं) पर सामगान किया जाता है। परंतु वैदिक शास्त्रों में हमें यह भी मिलता है कि बिना ऋचा के भी सामगान हो सकता है। जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण[2] में आता है कि 'प्रजापति ने देवताओं से कहा कि बिना ऋचा वाले साम से स्वर्ग लोक की ओर प्रयाण करो। वे देवता प्रजापति के आदेश से बिना ऋचा वाले साम से स्वर्ग लोक में चले गये।'

इससे यह स्पष्ट है कि बिना ऋचा के भी सामगान हो सकता है और वह बिना ऋचा का सामगान स्वर ही है।

---

१. ऋचि अध्यूढं साम गीयते। (छा० उ० १।६।१)

२. तानब्रवीत् साम्नानृचेन स्वर्गं लोकम्प्रयातेति। ते साम्नानृचेन स्वर्गं लोकं प्रायन्। (जै० उ० १।४।१।३)

आधुनिक संगीत की परिभाषा में इसे तान या आलाप कह सकते हैं। जिस प्रकार तान या आलाप में कोई कविता नहीं और कोई व्यक्त शब्द नहीं, उसी प्रकार यह बिना ऋचा का साम-गान है। बिना किसी ऋचा के जो स्वर गाया जाता है अर्थात् आलाप लिया जाता है, वह भी शक्ति को पैदा करने वाला होता है और किसी विशेष रूप में वह ऋचायुक्त स्वर से भी अधिक शक्ति पैदा करने वाला होता है। ऋचा में तो क. ख. ग. घ इत्यादि व्यञ्जनों के उच्चारण में कुछ न कुछ मनुष्य का ध्यान बँटता ही है, क्योंकि इनके उच्चारण में विशेष-विशेष प्रयत्न करने पड़ते हैं। इसलिए ऐसी अवस्था में ध्यान पूर्ण रूप से केन्द्रित नहीं रह सकता। जब ध्यान पूर्ण रूप से केन्द्रित न हुआ तो वह प्रबल शक्ति नहीं बन सकता। परंतु केवल-मात्र स्वर गान अर्थात् तान या आलाप में विशेष प्रयत्न नहीं करने पड़ते, इसलिये ध्यान बँटता नहीं। इससे शक्ति केन्द्रित रहती है। पक्के गानों में तान और आलाप में यही सिद्धान्त काम कर रहा है। जिस कविता पर राग गाया जाता है वह तो बहुत ही थोड़ी होती है।

एक-दो वाक्य पर ही सारा राग समाप्त हो जाता है। और प्रायः सम्पूर्ण राग तानों और आलापों से भरा पड़ा होता है। इसका कारण यही है कि कविता के जिस शब्द का भाव मन पर अंकित करना हो, उसी के साथ आलाप लेकर

मन को केन्द्रित किया जाता है। इसलिए संगीत में आलाप आदि को बहुत महत्व दिया गया है। ऋचा पर स्वर एवं सामगान करने और बिना ऋचा के स्वर लगाने अर्थात् आलाप लेने में एक और भेद है। और वह यह है कि मन्त्र अर्थात् ऋचा जिस विशिष्ट देवता की होती है, जिन शब्दों में होती है, जिस छंद में होती है, और जिस प्रयोजन के लिए होती है, उसी के अनुसार मन्त्ररचना की हुई होती है और वैसा ही भाव मन पर अंकित होता जाता है। एक प्रकार से स्वर से यह कहा जाता है कि शब्दों के भावों और शक्ति को कई गुना बढ़ा कर मन पर आंकित करते जाओ और वह ऐसा ही करता है। स्वर उस शब्द की गहरी छाप डालने के लिये मन को केन्द्रित करता है जिससे कि मन पर वह अमिट छाप पड़ती है कि जो आसानी से मिट नहीं सकती। और इससे दूसरा लाभ यह होता है कि मन को सिमटकर एक स्थान पर केन्द्रित होने या एकाग्र होने का अभ्यास हो जाता है; परंतु दूसरी ओर बिना ऋचा के स्वर अर्थात् केवलमात्र आलाप में यह समस्या है कि स्वर को क्या कहें? ध्यान को कहां केन्द्रित करें? शब्द तो हैं नहीं, जिससे कि उन शब्दों या उनके अर्थों पर मन केन्द्रित हो जाय। और यह भी सम्भावना है कि मुँह से स्वर निकल रहा हो और मन में इधर-उधर के विचार या बुरे विचार उठ रहे हों। इसी दृष्टि से जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण में प्रजापति के देवताओं को यह कहने पर भी कि 'बिना

ऋचा के साम से तुम स्वर्ग लोक में चले जाओ' अगले खण्ड में यह कह दिया कि 'यह स्वररूपी श्री असुरों ने भी प्राप्त कर ली।' इस पर देवताओं को चिन्ता हुई कि स्वररूपी श्री को असुरों से किस प्रकार छीना जाय। भाव यह है कि स्वर के द्वारा तो मन को केन्द्रित करना है और मन में जो भी भाव उठ रहे हों उन्हें कई गुना बढ़ा कर मन पर अंकित कर देना है या मन को उन भावों में लीन कर देना है। इससे मन में अच्छे भाव भी अंकित हो सकते हैं और बुरे भी। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि मन में अच्छे भाव ही उठें, बुरे न उठें। ये बुरे भाव ही असुर हैं जो कि मन को घेरे रहते हैं। यदि मन में बुरे भाव हुए तो स्वर द्वारा ये ही बुरे भाव अर्थात् असुर वृद्धि को प्राप्त हो जायेंगे। इसलिए इस बात का सदा ख्याल रखना चाहिये कि संगीत में अच्छी कविता का चुनाव हो। इस दृष्टि से जब बिना ऋचा के गाने पर वह स्वररूपी श्री असुरों ने ले ली तो देवता[1] बोले कि ऋचा पर ही हम साम-गान करते हैं।

परंतु यह याद रखना चाहिये कि मन में किसी भी प्रकार के भाव उठ रहे हों चाहें वे अच्छे हों या बुरे, मन उन भिन्न-भिन्न विचारों पर ही उछलता-कूदता रहेगा, पूर्ण स्थिर और एकाग्र नहीं हो सकेगा। इसलिए मन को पूर्ण एकाग्र

---

१. तेऽब्रुवन्नृच्येव साम गायामेति।

करने के लिये तीव्र से तीव्रतम शक्ति बनाने के लिये इस बात की आवश्यकता है कि मन में निरन्तर एक ही भाव उठे, भिन्न२ विचार न उठे। इस बात के लिए यह किया जा सकता है कि पूरी ऋचा या पूरी कविता न ली जाय। केवल एक शब्द पर ही साम-गान और आलाप आदि होते रहें। अब कौन-सा शब्द लेवें। यह एक विचारणीय है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कोई भी शब्द लिया जा सकता है। नारायण, भगवान्, हरि आदि अनेकों श्रेष्ठ शब्द हैं; परंतु इन शब्दोंके चुनाव में प्राचीन ऋषियोंने 'ओ३म्' को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। क्योंकि स्वर के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ शब्द वही है जो कि स्वर से पृथक् न रह कर स्वर में ही तद्रूप हो जाय। ऐसा शब्द 'ओ३म्' ही है। स्वर में 'ओ३म्' की स्थिति उसी प्रकार की है जिस प्रकार कि पानी में रंग। इस घोल अवस्था म पानी और रंग की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं रहती। इसी प्रकार स्वरकी और 'ओ३म्' की पृथक् सत्ता नहीं रहती। 'ओ३म्' शब्द में 'ओ' स्वयं स्वर है और मकार व्यञ्जन होता हुआ भी ओष्ठ बन्द करके उच्चरित होने से केवल नादरूप ही हो जाता है। इस लिये 'ओ३म्' के गान में स्वर और नाद ही रहता है, जो कि भिन्न-भिन्न विचारों और प्रयत्नों को न पैदा करके एकात्मप्रत्ययसार की अवस्था को पैदा कर देता है। अर्थात् ओ३म् के गाने से मनुष्य में निरन्तर एक तरह का ज्ञान ही स्थिर रहेगा। एक वस्तु का ही निरन्तर ध्यान हो सकेगा।

इसी दृष्टि से प्राचीन ऋषियों ने 'ओ३म्' को स्वर ही मान लिया है।

छान्दोग्योपनिषद्[1] में आता है कि यह ओ३म् स्वर है। यह अविनाशी अमृत तथा अभय है। इस ओ३म् रूपी स्वर में प्रविष्ट होकर देवता अमर तथा अभय बन गये। तैत्तिरीयारण्यक[2] में भी ओ३म् को स्वर कहा गया है। वहां आता है कि वेद अथवा वेद मन्त्रों के प्रारम्भ में जो प्रणव (ओ३म्) रूपी स्वर का उच्चारण किया जाता है। और मन्त्र के अन्त में भी जो उच्चरित होता है अथवा उपनिषदादि में जिस का प्रतिपादन किया गया है, ऐसा 'ओ३म्' शब्द अपनी मकार रूपी प्रकृति में लीन होने पर पीछे जो नाद सुनायी पड़ता है, वह महेश्वर है।

इसका भाव यह है कि सब वेदों तथा उपनिषदादि में इसी ओंकार की महिमा गायी गयी है। वेद भी सब इसी ओंकार से पैदा हुए हैं। इस 'ओ३म्' का जब उच्चारण और गान किया जाता है तब 'ओ३'—'म' में जाकर लीन

---

१. एष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन्। (छा० उ० १।४।४)

२. यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः।
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः॥
(तै० आ० १०।१०।३)

हो जाता है। इस लिये मकार इस 'ओ३म्' की मूल प्रकृति मान लिया गया है; परन्तु इस 'म्' के उच्चारण के बाद भी जो नाद और ध्वनि होती है उसको महेश्वर अर्थात् भगवान् माना है। इससे यह स्पष्ट है कि केवल नाद और स्वर जो व्यञ्जन आदि से रहित है और केवल ध्वनि-मात्र है, वह भगवान् है। जब केवल स्वर या नाद स्वयं भगवान् हैं तो वह अधिक शक्तिवाला होगा। इस लिये ऋचासहित सामगान से केवल स्वर-गान अर्थात् आलाप आदि अधिक शक्ति देने वाले हैं। 'ओ३म्' शब्द उस भगवान् का वाचक है। 'तस्य वाचकः प्रणवः' (योगदर्शन)। इस लिये 'ओ३म्' का उच्चारण करते ही उस भगवान् का स्मरण हो आता है। ध्यान भगवान् पर टिकता है; परन्तु यदि कोई केवल नाद का ही सम्बन्ध भगवान् से जोड़ सके तो यह आवश्यक नहीं कि वह 'ओ३म्' का ही उच्चारण करे। मुँह से स्वर और नाद हो रहा हो और ध्यान भगवान् का हो तो एकाग्रता शीघ्र होती है। परन्तु ऐसा प्रायः होता नहीं। कोई विरले ही ऐसे होंगे जो स्वर और नाद के होते ही भगवान् पर ध्यान को केन्द्रित कर सकें।

इस लिये भगवान् का वाचक 'ओ३म्' शब्द ही सब से सरल स्पष्ट तथा सिद्धिप्रद है और स्वर में यह अभिन्नरूप हो जाता है। ओ३म् का गान करते हुए ध्यान लगाने से वह ध्यान एक केन्द्र-बिन्दु पर पहुँच जाता है। इस लिये

केवल स्वर-गान अर्थात् तान और आलाप आदि व्यक्त शब्दों की अपेक्षा अधिक शक्ति रखते हैं। इसी कारण भारतीय संगीत में आलाप आदि का महत्त्व इतना अधिक है, और प्रायः सारे संगीत में तान और आलाप ही होते हैं। कविता तो बहुत ही मामूली होती है और उसका कोई विशेष महत्त्व भी नहीं होता।

मन्त्र में शक्ति--

यह एक प्राचीन मान्यता है कि मन्त्रों में शक्ति होती है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जाता है कि आजकल मन्त्रों का पठन-पाठन बहुत होता है; परन्तु मन्त्रों में वह शक्ति दिखाई नहीं देती जो प्राचीन शास्त्रों में बतायी गयी है। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि एक तो जो प्राचीन विधि-विधान हैं, ठीक उन्हीं के अनुसार परीक्षण करके देखना चाहिये कि मन्त्रों में शक्ति है या नहीं। परन्तु यहां हम एक और ही दृष्टि से इस सम्बन्ध में विचार करते हैं और वह है स्वर की दृष्टि। ऋचाएँ तो अस्थिमात्र हैं। जिस प्रकार मनुष्य को हम दो भागों में विभक्त करें, एक उसका ढांचा, जो अस्थिरूप है और दूसरा उसकी प्राण शक्ति। जिस प्रकार अस्थियों में स्वयं कोई शक्ति नहीं है, इसी प्रकार ऋचाओं और मन्त्रों में कोई विशेष शक्ति नहीं है। ये तो अस्थिमात्र हैं।

अस्थि वा ऋक्। (श० प० ब्रा० ७।५।२।२५)

इनमें शक्ति और प्राण तो स्वर लगने पर और स्वर सहित गान करने पर ही आते हैं। इसी लिये ब्राह्मणग्रन्थों में अनेकों स्थलों पर स्वर को प्राण कहा है।

प्राणो वै स्वरः। (ता० ब्रा० २४।११।६)

बिना स्वर के ऋचाएँ शक्ति देनेवाली नहीं होतीं शक्ति प्राप्ति के लिए ऋचाओं का स्वर सहित गान करना चाहिये। बिना स्वर की ऋचाएँ और मन्त्रों के सम्बन्ध में जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण[1] में कहा गया है कि—'देवता मृत्यु से छुटकारा पाने के लिये बिना स्वर की ऋचा में प्रविष्ट हो गये। परन्तु मृत्यु ने बिना स्वरवाली ऋचा में प्रविष्ट उन देवताओं को इस प्रकार जान लिया जिस प्रकार कि मणियों में पिरोया हुआ धागा जान लिया जाता है। इस प्रकार मृत्यु से जान लिये जाने पर वे देवता ऋचाओं में से निकल कर स्वर में प्रविष्ट हो गये। स्वर में प्रविष्ट उन देवताओं को मृत्यु न जान सकी इस पर मृत्यु ने यह किया कि स्वर का जो घोष था, उसका अनुकरण करके जहां देवता थे वहां जा पहुँची। इस पर देवता 'ओ३म्' इस अक्षर पर समारूढ़ हो गये। यहां मृत्यु उन देवताओं का

---

१. तानस्यामृच्यस्वारायां मृत्युर्निरजानाद्यथा मणौ मणिसूत्रम्परिपश्येदेवम्। ते स्वरम्प्राविशन्। तान् स्वरे सतो न निरजानात्! स्वरस्य तु घोषेणान्वैत्। ६। त ओमित्येतदेवाक्षरं समारोहन्। एतदेवाक्षरं त्रयीविद्या। यददो अमृतं तपति तत्प्रपद्य ततो मृत्युना पाप्मना व्यावर्तन्त। (जै० उ० ब्रा० १।४।४।८-१०)

कुछ न बिगाड़ सकी। यह ओ३म् ही त्रयीविद्या है। यह ओ३म्रूपी अमृत तप रहा है। इस ओ३म्रूपी अमृत को प्राप्त करने पर मृत्यु से छुटकारा हो जाता है।

इस उपर्युक्त प्रकरण से यह स्पष्ट है कि बिना स्वर की ऋचा में यह शक्ति नहीं जो मृत्यु से छुटकारा दिला कर अमर बना दे। इसलिये मृत्यु से छुटकारा पाने के लिये देवताओं को स्वर में प्रविष्ट होना पड़ा। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि बिना स्वर की ऋचा अर्थात् सामान्य रूप से मन्त्र-पाठ कर लेने से तो स्वर ही अधिक श्रेष्ठ है। इस पर यह शंका हो सकती है कि स्वर-गान अर्थात् तान-आलाप आदि यदि शक्ति देने वाले हैं तो जितने संगीतज्ञ हैं उनको कोई विशेष शक्ति क्यों नहीं प्राप्त होती? इस सम्बन्ध में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्वर-साधना की दृष्टि से कोई भी संगीतज्ञ इस कला को नहीं अपनाता। जिस मनुष्य में यह संकल्पाग्नि प्रज्वलित हो चुकी है कि मैं स्वर को मन के एकाग्र करने में साधन बनाऊँगा और ऐसा वह निरन्तर प्रयत्न भी करता है तो स्वर मन को एकाग्र करने में उसकी सहायता भी करता है। प्रायः बहुतों का यह अनुभव भी होगा कि जिस किसी विशेष विषय का वे चिन्तन कर रहे हों और वह स्पष्ट न हो रहा हो तो प्रायः मनुष्य मुँह से स्वर निकालते हैं, या गुनगुनाने लगते हैं। वह किसलिये होता है? इसका कारण यह है कि उस समय मनुष्य अपने मन की सब वृत्तियों को एकाग्र करके पूर्णरूप से

उस विषय के चिन्तन में ही उसको लगाये हुए होता है। मुँह से स्वर निकालना या गुनगुनाना उस विषय की ओर मन की पूर्ण एकाग्रता में और भी सहायक होता है। परन्तु मुँह से स्वर निकालना या गुनगुनाना आदि भी तभी सहायक होते हैं, जब मन में यह बात पैदा हो जाय कि मुझको अमुक विषय का चिन्तन करना है, और मन उस विषय का चिन्तन करने लगे। इसी प्रकार मन्त्रों के गान, तान, आलाप आदि तभी सहायक होते हैं जब कि पहले मन में यह अग्नि पैदा हो जाय कि मुझको अमुक सिद्धि प्राप्त करनी है। उस अभीष्ट सिद्धि की ओर जाते हुए मन के ये स्वर आदि सहायक हैं। इस लिये चाहे कितने ही मन्त्र गान, ओ३म् आदि का गान कर लें, तब तक पूर्ण सफलता नहीं मिलती, जब तक हृदय के साथ तार नहीं जुड़े हैं, हृदयाग्नि प्रज्वलित नहीं हो उठी है।

स्वर-गान के नियम--

स्वर-गान में यह बात याद रखने की है कि स्वर में संगीत का प्राधान्य होना चाहिये। सामवेद के साम-गान में कुछ नियम बन गये हैं। लौकिक संगीत में भी कुछ नियम बने हुए हैं जिनके आधार पर गाना होता है; परन्तु मन की एकाग्रता के लिये केवलमात्र स्वर-गान या ओ३म् के गान में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। जिस प्रकार के स्वर से भी मनुष्य का मन एकाग्र हो सके, वैसा ही स्वर-गान मनुष्य को कर लेना चाहिये। वैसे तो सामवेद की सामगान-पद्धति में भी ऐसा कोई निश्चित

नियम नहीं समझना चाहिये कि इसी पद्धति से ही साम-गान हो सकता है, अन्य पद्धतियों से नहीं। सामवेद को 'सहस्रवर्त्मा' इसी लिये कहते हैं कि गान पद्धतियां हजारों थीं। अर्थात् जिसको जैसा अनुकूल पड़ा, उसने वैसी गान-पद्धति अपने शिष्यों में प्रचलित कर दी। साम वेद की सार्थकता संगीतमें है, ऋचा में नहीं। ऋचाओं में भिन्नता होनेसे सामवेद की शाखाओं में भिन्नता नहीं है; अपितु संगीत में भिन्नता होने से शाखाओंमें भिन्नता है। इस लिये अध्यात्म के अभिलाषी मनुष्य को स्वर की महत्ता समझकर 'ओ३म्' पर स्वर-गान द्वारा अथवा लक्ष्य पर ध्यान टिका कर केवल स्वर-गानद्वारा अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये। मन्त्रों में वर्णित कामनाएँ पूरी करनी हों तो उन्हें भी स्वर या संगीत का जामा पहनाकर गाना चाहिये, तभी सफलता होगी, परन्तु सब से प्रमुख सिद्धि मन की एकाग्रता है। इसके सिद्ध होने से अन्य सब कामनाएँ स्वयं सिद्ध हो जायेंगी।

मुंह बन्द करके स्वर गान--

स्वर-गान के सम्बन्ध में एक बातका और ध्यान रखना चाहिये, वह यह कि मुँह बंद करके जो स्वर निकाला जायगा उसका महत्त्व अधिक होगा। मुँह बंद करके स्वर निकालने में शक्ति अन्दर ही रहती है और मुँह खोल कर स्वर-गान में शक्ति बाहर निकल जाती है। इसी बात को श० प० ब्रा० ११।४।२।१०-११ में इस प्रकार दिखाया है कि—

अथ हैतद्बहिःश्रि। योऽयमपव्यादायौष्ठा उच्चैः स्वरमाश्रावयति। श्रीर्वै स्वरो बाह्यत एव तच्छ्रियन्धत्तेऽशनायुको भवति ॥ १० ॥

'उस मनुष्य की श्री बाहर चली जाती है जो कि दोनों होठों को खोल कर ऊँचा स्वर सुनाता है, क्योंकि स्वर ही श्री है। मुँह खोलकर स्वर लगाने से स्वररूपी श्री को वह बाहर कर देता है। ऐसा मनुष्य भूखा या क्षीण शक्ति हो जाता है।' आगे कहा कि—

अथ हैतदन्तःश्रि। योऽयं सन्धायौष्ठा उच्चैः स्वरमाश्रावयति। श्रीर्वै स्वरोऽन्तरत एव तच्छ्रियन्धत्ते। अन्नादो भवति ॥ ११ ॥

'उस मनुष्य की श्री अन्दर ही रहती है जो कि मुँह बन्द करके ऊँचा स्वर सुनाता है, क्योंकि मुँह बन्द करके स्वर निकालने से स्वररूपी श्री अन्दर ही रह जाती है। ऐसा मनुष्य अपने को तृप्त-सा अनुभव करता है।'

इस उपर्युक्त प्रकरण का तात्पर्य यह है कि स्वर से जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह शक्ति बाहर भी जा सकती है और अन्दर भी रह सकती है। संगीतज्ञों तथा व्याख्याताओं का यह अनुभव है कि गाना गानें और व्याख्यान देने के पश्चात् वे अपने को बहुत थका हुआ सा अनुभव करते हैं; क्योंकि गाना गाने और व्याख्यान देने में शक्ति बाहर निकल जाती है। यह शक्ति

बाहर न जाय, अन्दर ही रहे और स्वर का अपनी शक्ति का उपयोग हो जाय, इसका यही उपाय है कि मनुष्य मुँह बंद करके स्वर निकाले और ध्यान मस्तिष्क में तथा हृदय में करे। इस प्रकार स्वर के अन्दर बहुत शक्तियां हैं। वह जहां दिव्य शक्तियों की प्राप्ति का साधन बन सकता है, वहां शरीरस्थ बीमारियों तथा पापादि असुरों के विनाश में भी बड़ा भारी साधन बन सकता है। जिस प्रकार व्याख्यान आदि के द्वारा दूसरे के मन को उत्तेजित किया जा सकता है। वीरभाव का उत्पन्न करना, रुलाना तथा करुणा आदि का उत्पन्न करना—आदि श्रेष्ठ व्याख्याता के अपने हाथों में होता है। इसी प्रकार संगीत भी मन को समुत्तेजित करता है। यह सब स्वर का ही प्रभाव है। स्वर आत्मशक्ति को जाग्रत् करने वाला है। यह सम्भव है कि मन्दिरों में घंटे-घड़ियाल के स्वर द्वारा आन्तर देवता को ही जाग्रत् किया जाता होगा तथा जो अपने आन्तरिक देवता को जाग्रत् करना चाहता है, उसे मन्दिरों में बजते हुए घंटे-घड़ियालों के स्वरों को मन को एकाग्र करने में साधन समझना चाहिये। और एकाग्र मन से उस ध्वनि का अनुसरण करना चाहिये। इस प्रकार स्वर का बहुत महत्त्व है। वह शक्तियों का देने वाला तथा असुरों का विनाश करनेवाला है। योगशिखोपनिषत् का यह वाक्य सदा स्मरण रखना चाहिये—

सदा नादानुसन्धानात् संक्षीणा वासना भवेत् (६।७)

—:०:—

षष्ठ अध्याय

अर्क द्वारा वल (आवरण) का विनाश

ऋ० १०।६८।४ में आता है कि 'अवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः' अर्थात् वह बृहस्पति शिष्य के प्रति अर्क फेंकता है जिस प्रकार द्युलोक से उल्काएँ गिरती हैं। एक दूसरे मन्त्र ऋ० १०।६८।६ में आता है कि वह बृहस्पति आन्तरिक अग्नि से परितप्त अर्कों द्वारा शिष्य के वल अर्थात आवरण को विनष्ट करता है (जसुं भेद् बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः)। अब विचारणीय यह है कि अर्क किसे कहते हैं ? वैदिक साहित्य में अर्क शब्द के अनेकों अर्थ हमें मिलते हैं। इस अर्क शब्द के अनेकों अर्थ होते हुए भी वेदादि शास्त्रों से हमें यह पता चलता है कि इसके ठीक २ स्वरूप का निर्णय करना कुछ कठिन कार्य है। वेद में एक स्थान पर अर्क के सम्बन्ध में यह प्रश्न किया गया है कि अमुक क्षेत्र में अर्क क्या होगा ? वह मन्त्र इस प्रकार है—

'कस्ते यज्ञो मनसे शं वराय को अर्क इन्द्र कतमः सः होता'

ऋ० ६।२१।४

हे इन्द्र ! मन के लिये सुखकारी तेरा कौनसा यज्ञ है ? और तेरे वरण के लिये कौनसा अर्क है ? और उस यज्ञ को कराने वाला होता कौनसा है ?

इस प्रकार वेद मन्त्र में 'कः अर्कः' यह प्रश्न इस बात का सूचक है कि अर्क कई प्रकार के हैं। प्रत्येक क्षेत्र में कौन से अर्क का ग्रहण करना है, यह निश्चय करने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार श० प० ब्रा० १०।३।४।३ में भी श्वेतकेतु के पिता आरुणि ने वैश्वावसव्य ब्राह्मण से प्रश्न किया है— 'वेत्थार्कमिति' अर्थात् क्या तू अर्क को जानता है ? इस प्रकार प्रश्न करने से यह पता चलता है कि स्थूल दृष्टि से केवलमात्र शब्दार्थ देखने से अर्क के स्वरूप को हृदयंगम करना बड़ा कठिन है। अब हमारे सामने भी यह प्रश्न है कि बृहस्पति किन अर्कों को शिष्य के प्रति फेंकता हैं। और किन से शिष्य के आवरण को नष्ट करता है। इसके उत्तर में यदि हम एक वाक्य में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि यह आन्तरिक अर्क हैं जो कि दिव्य पुरुष की सब इन्द्रियों द्वारा किरण रूप में बाहिर निकलते हैं। अर्क के सम्बन्ध से ये इन्द्रियां भी अर्क ही कही गई हैं। इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर से इन्द्रियों द्वारा किरणें बाहिर निकलती हैं। परन्तु जिस किसी भी मनुष्य की इन्द्रिय किरणों को अर्क नहीं कहते। अर्कों वाले पुरुष सामान्य मनुष्यों से पृथक् होते हैं। इसी दृष्टि से वेद में भी अर्कों वाले पुरुषों

की स्थिति अलग बतायी है। ऋ० १।१०।१ में अर्की पुरुषों का अलग निर्देश किया है। मन्त्र इस प्रकार है—

'गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः'

अर्थात् गायत्री द्वारा गान करने वाले तेरा गान करते हैं और अर्की पुरुष तुझ अर्क की अर्चना करते हैं। इस प्रकार मन्त्र में अर्की पुरुषों का पृथक् निर्देश किया है। इसकी पुष्टि में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य में अर्क स्वभावतः नहीं होता, अपितु इसकी उत्पति की जाती है। मन्त्रों में इसकी उत्पत्ति का वर्णन आता है। उदाहरणार्थ दो एक मन्त्र इस प्रकार हैं। ऋ० ६।७३।२ में आता है कि 'मधोर्धाराभिर्जनयन्तो अर्कम्' अर्थात् महान् पुरुष मधु की धाराओं से अर्क की उत्पत्ति करते हैं।

कौन पुरुष अर्क की उत्पत्ति कर सकते हैं? इस सम्बन्ध में ऋ० ८।८८।४ में एक ऋषि का संकेत भी किया है। मन्त्र इस प्रकार है 'आत्वायमर्क ऊतये ववर्तति यं गोतमा अजीजनन्' जिस अर्क को गोतम पुरुषों ने पैदा किया है, हे इन्द्र! वह अर्क रक्षा के लिये तुमको हमारी ओर मोड़ना है।

इन उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि अर्क की उत्पत्ति की जाती है। और उपर्युक्त मन्त्र में अर्क की उत्पत्ति करने वाले गौतम पुरुष बताये गये हैं। गौतम एक वैदिक ऋषि हैं। इन ऋषियों के स्वरूप के सम्बन्ध म हम पृथक् ही

लिख रहे हैं। इस लिये यहां संकेत से यह कहा जा सकता है कि गौतम पुरुष वे हैं जिनकी इन्द्रिय किरणें पवित्रतम व श्रेष्ठतम हैं। इस प्रकार हम यह देख चुके हैं कि अर्क स्वभावतः सब के अन्दर नहीं होता, अपितु इसकी उत्पत्ति की जाती है। अब विचारणीय यह है कि यह अर्क क्या है? श० प० ब्रा० १०।३।४।५ में अर्क के स्वरूप को इस प्रकार खोला गया है।

'स एषोऽग्निरर्कोयत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निमर्कम्पुरुषमुपास्तेऽयमहमग्निरर्कोऽस्मीति विद्यया हैवास्यैष आत्मन्नग्निरर्कश्चितो भवति।'

अर्थात् यह अग्निरूप पुरुष अर्क है। जो इस अग्निरूप अर्क पुरुष की उपासना करता है, अर्थात् मैं अग्निरूप अर्क हूँ, इस प्रकार अपने अन्दर भावना को जागृत करता रहता है। ऐसे पुरुष की आत्मा में विद्या (पराविद्या) द्वारा अग्नि रूपी अर्क का चयन होता रहता है। एक समय आकर वह पुरुष स्वयं अर्करूप बन जाता है। इस लिये जिस मनुष्य के अन्दर अग्नि प्रज्वलित होती है, उस अग्निमय पुरुष को अर्क कहते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि मनुष्य में जिस किसी भी उद्देश्य के प्रति अग्नि प्रज्वलित हो जाये, क्या ऐसे मनुष्य को अर्क कह सकते हैं? इसके निर्णय के लिये हमें अर्क के स्वरूप को और भी स्पष्ट करने की आवश्यकता है। बृ० उप० १।२।१ में अर्क का अर्कत्व क्या है? यह खोला गया है। इस अर्कत्व

के स्पष्टीकरण से सब बातें स्पष्ट हो जायेंगी। वह प्रकरण इस प्रकार है।

'नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्। मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनाययाऽशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति सोऽर्चन्नचरत् तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं कं ह वास्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वंवेद'।

यहां प्रारम्भ में कुछ भी नहीं था। अशनाया रूपी मृत्यु से सब कुछ घिरा हुआ था। तब मन ने यह सोचा कि मुझे आत्मन्वी अर्थात् आत्मा वाला बनना चाहिये। यह सोच कर आत्मा की प्राप्ति के लिये वह अर्चना करता हुआ विचरण करने लगा। अर्चना करते हुए उसके अन्दर जल उत्पन्न हो गये। और अर्चना करते हुए उस मन को सुख हुआ। यही अर्क का अर्कत्व है। जो इस अर्क के अर्कत्व को जानता है उसे सुख होता है।

बृहदारण्यकोपनिषत् का यह प्रकरण परमपुरुष परमात्मा तथा मानव पुरुष दोनों में घटाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों में इसको लगाया जा सकता है। ब्रह्माण्ड में तो इसका भाव यह है कि जिस समय सृष्टि बननी प्रारम्भ हुई तो शक्तियां एक दूसरे का भक्षण करने लगीं। उस समय भूख व भक्षण का ही चारों ओर राज्य था। अर्थात् एक दूसरे का भक्षण करने से सर्वत्र

मृत्यु ही मृत्यु थी। इसके अनन्तर मनस्तत्व ने परमात्मा का सम्पर्क चाहा। उसके लिये उसने अर्चना की। तब परमात्मा के सम्पर्क से उसमें अर्क की उत्पत्ति हुई अर्थात परमात्मा के तदुद्देश्य सम्पर्क से इस ब्रह्माण्ड में अग्नि पैदा हो गई। यही अग्नि अर्क है। इसका आगे परिणाम यह हुआ कि अण्डे में अग्नि के आ जाने से जल की उत्पत्ति हुई। अर्थात् जल रूप में पिघल २ कर बहुत से पदार्थ अलग होते गये और वे पृथ्वी आदि बनते गये। इस प्रकार ब्रह्माण्ड में हमने इस अर्क की उत्पत्ति का संक्षिप्त भाव दिखाया। परन्तु हमें यहां पिण्ड अर्थात् मनुष्य में आध्यात्मिक पहलू से इस अर्क का स्पष्टीकरण करना है। इस लिए मनुष्य में इसका भाव इस प्रकार होगा कि साधारण मनुष्य सदा 'अशना' (भूख, इच्छा Desire, Appetite) से घिरा रहता है। जब तक मनुष्य में अशना अर्थात् भूख इच्छाएँ आदि बनी रहती हैं, तब तक वह मृत्यु से छुटकारा नहीं पा सकता। इच्छाओं की पूर्ति के लिये वह इधर उधर मारा २ फिरता है। पग २ पर उसका पतन होता है। इसी प्रकार बहुत सी बातें मनुष्य में इस 'अशना' के कारण आ जाती हैं। परन्तु जब मनुष्य यह अनुभव कर लेता है कि इच्छाओं की पूर्ति असम्भव है। इनके कारण दुःख ही दुःख है और ये अनित्य हैं। इस लिये इनके होते हुए मृत्यु से छुटकारा असम्भव है, तब वह इस 'अशना' को छोड़कर भगवान् की खोज करता है। आत्मन्वी बनता है।

उस समय वह भगवान् की अर्चना करता हुआ विचरता है। भगवान् की प्राप्ति के लिये वह रोता है। प्रकृति के भोगों को पूर्णतया छोड़ कर चारों ओर वह भगवान् की ही खोज करता है। जहां पहले इच्छाओं की पूर्ति के लिये वाणी का उपयोग होता था, वहां अब भगवान् के गुण कीर्तन में ही वाणी का उपयोग होता है। जहां पहले स्वार्थमयी तथा बुरी दृष्टि से औरों को देखता था, वहां अब वह तृषित आंखों से ब्रह्माण्ड के एक २ कण में भगवान् की खोज करता है। जहां पहले झूठी तथा बनावटी कीर्ति को सुनकर फूला न समाता था, वहां अब हरिकीर्तन को सुनने के लिये सदा उत्सुक रहता है। इसी प्रकार अन्य सब इन्द्रियों का उपयोग वह भगवान् के लिये करता है। इस प्रकार मन आत्मन्वी अर्थात् आत्मा की खोज करने वाला बन जाता है। और भगवान् की अर्चना करता हुआ वह रात दिन विचरता है। इस अवस्था में आकर यह आन्तरिक अग्नि अर्क कहलाती है। भगवान् की अर्चना में भक्त के आंखों से आंसू भी झरते हैं। यह (अर्चत आपोऽजायन्त) अर्चना करते हुए जल की उत्पत्ति है। और इस रोने धोने में उसे दुःख नहीं होता, अपितु सुख ही होता है। इस लिये भगवान् की अर्चना में सुख के अनुभव होने से (अर्च+क) इस आन्तरिक अग्नि को अर्क कहते हैं। इस अर्क रूपी अग्नि का सम्पर्क करके यह आत्मा भी अर्क कहलाती है। यह आन्तरिक अग्नि अन्दर ही न समाकर इन्द्रियों द्वारा बाहिर

भी निकलती है। इस लिये इन्द्रियां भी अर्क कहलाती है। इसी बात को श्वेतकेतु के पिता आरुणि ने वैश्वावसव्य ब्राह्मण से पूछा था। उसका भाव निम्न शब्दों में इस प्रकार है। पुरुष[1] ही अर्क है। दोनों कान अर्कपर्ण हैं। आंखें अर्कपुष्प हैं। नाक अर्ककोश हैं। ओष्ठ अर्क समुद्ग (पिटारी) है। दांत अर्क धान हैं। और जिह्वा अर्काष्ठीला और अन्न अर्क मूल है। इस लिये यह अग्निमय पुरुष ही अर्क है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकरण के आधार पर हमने यह देखा कि जिस किस किसी भी उद्देश्य के लिये प्रज्वलित अग्नि को अर्क नहीं कहते। भगवान् की प्राप्ति के लिये प्रदीप्त अग्नि को ही अर्क कहते हैं।

अर्क का निवास-स्थान:—

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि मन आत्मन्वी बना अर्थात् आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध हुआ और आत्मा की अर्चना करते हुए उसके अन्दर अग्नि प्रज्वलित हुई। इस से यह स्पष्ट है कि यह अग्नि मानसिक अग्नि है। अब विचारणीय यह है कि इस अर्क अग्नि का निवास स्थान क्या है ? उपर्युक्त श० प० ब्रा० के प्रकरण से, जहां कि अर्क का अर्कत्व बताया गया है यह पता चलता है कि अर्क का स्थान मन है। परन्तु इस मन का मुख्य स्थान हृदय (हृत्प्रतिष्ठम्)

१ श० प० ब्रा० १०।३।४।५

होते हुए भी मस्तिष्क भी इसका स्थान है। इस लिये अर्क का स्थान भी हृदय और मस्तिष्क दोनों है। परन्तु प्रमाणों से हमें यह पता चलता है कि अर्क की दृष्टि से मन के दूसरे निवास स्थान मस्तिष्क का ही मुख्य रूप से यहां ग्रहण करना है। इसी दृष्टि से ता० ब्रा० में कहा गया है कि—

'अर्कवतीषु गायत्रीषु शिरो भवति' ता० ब्रा० ५।१।८

अर्थात् अर्क वाली गायत्रियों का स्थान सिर है। इस का भाव यह है कि जिन गायत्रियों में अर्क का वर्णन हो या अर्क के द्वारा भगवान की अर्चना हो, उन गायत्रियों के गान के समय मनुष्य को सिर में ध्यान करना चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि अर्क का मुख्य स्थान सिर है। श० प० ब्रा० ८।६।२।१६ में भी अर्क का निवास स्थान मस्तिष्क बताया है। वहां—

'अर्को देवानां परमे व्योमन्, अर्कस्य देवाः परमे व्योमन्'

इस पद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि उत्तम चिति में सब देव अग्नि रूपी अर्क के साथ बैठे हुए हैं। उत्तम चिति सिर है। और इस सिर को परम व्योम करके कहा गया है। इस प्रकार अर्क का मुख्य निवास स्थान सिर है। वेद मन्त्रों से भी हमें ऐसा ही निर्देश मिलता है। ऋ० १।१८६।४ में एक पद आता है कि 'समाने अहन् विमिमानो अर्कम्' अर्थात् यह अर्क मस्तिष्क रूपी एक ही भाग में विविध रूप धारण-करता है। मस्तिष्क में अर्क के वे विविध रूप

कौन से हैं ? इसके लिये ऋ० ८।५१।४ में कहा कि 'यस्मा अर्क सप्तशीर्षाणमानृचुः' अर्थात जिस इन्द्र के लिये मनुष्य सिर में सात रूपों में विभक्त अर्क को प्रकाशित करते हैं या अर्चना करते हैं। इस प्रकार वेद मन्त्रों से भी हमें यह पता चलता है कि अर्क का मुख्य स्थान सिर है। परन्तु यदि और गम्भीरता से विचार करें तो हम यह कह सकते हैं कि योग व अध्यात्म में चलने वाले पुरुष के हृदय और मस्तिष्क में भेद नहीं रहता। वहां दोनों एक हो जाते हैं। वेद मन्त्र में अथर्वा पुरुष के लिये भी ऐसा ही कहा है कि वह हृदय और मस्तिष्क को एक रूप में सी देता है अर्थात् एक कर देता है। (मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्० अथर्व० १०।२।२६)

इस लिये अध्यात्म में विचरने वाले मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क एक हो जाता है। इस दृष्टि से अर्क हृदय में रहे या मस्तिष्क में रहे, बात एक ही है। या यूं कह सकते हैं कि अर्क सिर में भी है और हृदय में भी है।

इन्द्रिय सम्बन्धी अर्कः--

यह अर्क हृदय और मस्तिष्क में रहता हुआ भी यह आवश्यक नहीं कि इन्द्रियों में भी विद्यमान हो। हम संसार में ऐसे बहुत से व्यक्ति देखते हैं जिनकी बुद्धि बहुत उत्कृष्ट है। गुह्य तथा रहस्यमय बातें उनकी बुद्धि में आती हैं, परन्तु इन्द्रिय व शरीर की दृष्टि से वे बिल्कुल साधारण व्यक्ति

प्रतीत होते हैं। इसमें सम्भवतः यह कारण हो सकता है कि आन्तरिक हृदय गुहा में से जो शक्ति बाहिर प्रकट होना चाह रही है, वह केवल अभी तक बुद्धि तक ही आकर रह गई हो। इसी प्रकार अर्क रूपी अग्नि भी हो सकता है इन्द्रियों तक न पहुँचे। इस लिये वेद मन्त्रों में इन्द्रिय सम्बन्धी अर्क को उत्पन्न करने का विधान किया है। मन्त्र इस प्रकार है—

'अर्चन्तो अर्क जनयन्त इन्द्रियम्' ऋ० १। ८५। २

अर्थात् अर्चना करते हुए मरुतों ने इन्द्रिय सम्बन्धी अर्क की उत्पत्ति की। इससे यह स्पष्ट है कि इन्द्रियों में अर्क की उत्पत्ति की जाती है। इन्द्रियों में अर्क की उत्पत्ति का भाव यह है कि आन्तरिक अग्नि जो कि अर्क रूप है, अन्दर ही सीमित न रह कर उसका शरीर व इन्द्रियों म भी अवतरण किया जाये। प्रत्येक इन्द्रिय चहुँ ओर भगवान् के ही रूपों का दर्शन करे तथा शरीर का एक २ कण भगवान् की अर्चना कर रहा हो। ऐसी अवस्था अर्की पुरुष की होनी चाहिये। जब अर्की पुरुष की इन्द्रियों में भी अर्क का अवतरण व उत्पत्ति हो जाती है, तब वह अर्क इन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् में भी प्रकट होता है। इन्द्रियों में अर्क के उत्पन्न होने पर उनमें दिव्यता आजाती है। जिस किसी भी व्यक्ति पर अनुग्रह रूप में अर्की पुरुष के अर्क पड़ते हैं, वह पवित्र हो जाता है, उसके सब मल धुल जाते हैं। उन अर्की नामक दिव्य पुरुषों की आंख की दिव्य ज्योति मनुष्यों के मैल को भस्म कर देती है। इसी

आधार पर बृहस्पति के लिये भी मन्त्र में कहा गया है कि वह बृहस्पति अपनी आन्तरिक अग्नि से परितप्त अर्कों अर्थात् आंख की दिव्य ज्योति से शिष्य के वलरूपी आवरण को विनष्ट कर देता है।

(जसुं भेद् बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः)

अर्क के कार्य--

अब हम मन्त्रों द्वारा यह देखते हैं कि अर्क क्या २ कार्य कर सकता है।

ऋ० ३।३१।११ में आता है कि 'उदुस्रिया असृजदिन्द्रो अर्कैः' अर्थात् इन्द्र ने अर्कों द्वारा दिव्य किरणों को ऊपर की ओर को गति दी। इस मन्त्र भाग से यह स्पष्ट है कि दिव्य किरणों के उद्गम में अर्क का बहुत बड़ा स्थान है। बृहस्पति भी अर्कों द्वारा अर्थात् अपनी दिव्य चक्षु द्वारा शिष्य के आवरण को विनष्ट करता है। और शिष्य की दिव्य शक्ति को ऊपर की ओर प्रेरित करता है। बृहस्पति के लिये एक मन्त्र भाग में कहा गया है कि 'बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः' ऋ० ६।७३।३ अर्थात् बृहस्पति अर्कों द्वारा शत्रु का हनन करता है। एक मन्त्र में इन्द्र के लिये कहा गया है कि—'अर्कैरभि प्रणो नुमः समोजसे' ऋ० ८।१२।२३ अर्थात् श्रेष्ठ ओज की प्राप्ति के लिये अर्कों द्वारा हम इन्द्र को प्रणाम करते हैं। इसी प्रकार अर्कों की शक्ति को बताने वाले निम्न मन्त्र दिखाये जा सकते हैं।

'स त्वं न इन्द्र धियसानो अर्कैः' ऋ० ५। ३३। २

हे इन्द्र ! तू हमें अर्कों द्वारा बुद्धि व कर्मों को देने वाला है।

'ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्कैरवर्धयन्नहये हन्तवा उ'
ऋ० ५। ३१। ४

ब्रह्म में विचरने वाले व्यक्ति अहि के हनन के लिये आत्मा रूपी इन्द्र को अर्कों द्वारा महान बनाते हैं।

सिन्धाविव प्रेरयं नावमर्कैः ऋ० १०। ११६। ९

जिस प्रकार नदी व समुद्र में नौका को पतवारों से खेते हैं, उसी प्रकार अर्क रूपी पतवारों द्वारा इस संसार सागर में मैं अपनी जीवन नैय्या को खेता हूँ।

स्वर्यद् वेदि सुदृशीकमर्कैः ऋ० ४। १६। ४

अर्कों द्वारा सुन्दर तथा रमणीय दृश्यों वाले स्वर्लोक को मैं जान लेता हूँ। इससे यह स्पष्ट है कि अर्कों की शक्ति इतनी महान् हो सकती है कि ब्रह्माण्ड में विद्यमान् सब वस्तुओं को इनके द्वारा देखा व जाना जा सकता है।

ऋतावरी दिवो अर्कैरबोधि। ऋ० ३। ६१। ६

अर्थात् ऋत को प्रकट करने वाली (ऋत+आवरी) दिव्य उषा मस्तिष्क रूपी द्युलोक के अर्कों द्वारा जागृत की जाती है।

ब्रह्म कृण्वन्तो गोतमासो अर्कैरूर्ध्वं नुनुद्र उत्सधिं पिबध्यै
ऋ० १। ८८। ४

अर्थात् (गोतमासः) इन्द्रिय सम्बन्धी दिव्य शक्ति वाले पुरुष ब्रह्म को साधते हुए दिव्यज्ञान का पान करने के लिये (उत्साधिं) दिव्य ज्ञान के समुद्र व फुव्वारे को अर्कों द्वारा ऊपर की ओर को प्रेरित करते हैं।

उत्स वह फुव्वारा है जिसमें से दिव्य ज्ञान की धारायें फूटकर निकलती हैं। इन दिव्य ज्ञान की धाराओं को धारण करने वाले को 'उत्सधि' कहते हैं। लौकिक भाषा में इसे चाहे कूआ कहलें, समुद्र कहलं, भंडार कहलेवें बात एक ही है। ब्रह्म की साधना करने वाले पुरुष अर्कों द्वारा इस दिव्य ज्ञान के भंडार को ऊपर की ओर को खोलते हैं।

रपत् कविरिन्द्रार्कसातौ० ऋ० १ । १७४ । ७

हे इन्द्र ! अर्क के दान के लिये कवि तेरी स्तुति करता है। अर्थात् वह कवि तेरी इस लिये स्तुति करता है कि तू उसे अर्क दे। जिस कवि को भगवान् अर्क देता है, उसको भगवान् प्रेरित करता है कि इस अर्क को तू अन्यों को दे। मन्त्र इस प्रकार है—

त्वं कविं चोदयो अर्कसातौ ऋ० ६ । २७ । ३

हे भगवन् ! तू कवि को अन्यों को अर्क देने के लिये प्रेरित करता है।

सो अर्केण विबबाधे तमांसि ऋ० १० । ६८ । ९

वह बृहस्पति अर्क द्वारा अन्धकार को दूर करता है।

ऋ० १०।६८।१ मन्त्र में बृहस्पति के अर्कों के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्यर्का अनावन्।

बृहस्पति के अर्क जल में भीगे व डूबे हुए पक्षी के समान विषय भोगों में डूबे हुए मनुष्यों की रक्षा करते हैं। मेघ में स्थित विद्युत् के समान पापों के प्रति गरजते हैं। और जिस पर ये अर्क जाकर पड़ते हैं, उसे इस प्रकार विकसित कर देते हैं जिस प्रकार पहाड़ की चोटी से गिर कर लहरें खिल जाती हैं।

इस प्रकर संक्षेप में हमने अर्कों के सम्बन्ध में विचार किया। दिव्य गुरु के ये अर्क अर्थात् दिव्य किरणें शिष्य के आवरण को विनष्ट करती हैं, और उसकी शक्तियों को विकसित करती हैं।

—:०:—

स्तोभ (स्तुति) द्वारा बलासुर का विनाश--

ऋ० १ । ६२ । ४ मन्त्र में बलासुर के विनाश के कई साधन बताये गये हैं। उनमें एक उपाय 'सुष्टुभा स्तुभा' इन दो शब्दों के द्वारा बताया गया है। सुष्टुभ (सु+स्तुभ) और स्तुभ ये दोनों शब्द 'स्तुभ स्तम्भने' धातु से निष्पन्न होते हैं। सुष्ठुभ या स्तुभ इनका अर्थ उत्तम स्तुति या सामान्य स्तुति ऐसा किया जा सकता है। परन्तु इन दोनों का मुख्यार्थ स्तम्भन अर्थात् थामने में है। स्तुति हो या अन्य कोई तत्व हो, जो भी थामने का काम करेगा वह स्तुभ या सुष्टुभ कहला सकता है। स्तुति अर्थ होने पर वही स्तुति स्तुभ कहलायेगी जो कि मनुष्य के मन को स्तुत्य पदार्थ में थामे रहे। परमात्मा की भक्ति में मनुष्य मन्त्रों व भजनों द्वारा गायन करते हैं, यदि गायन करते हुए मन भगवान् में स्थिर नहीं है। वह इधर उधर जाता रहता है, तो वह स्तुति स्तोभ नहीं कहलायेगी। मनरूपी विद्युत् का किसी स्थान पर प्रहार भी स्तोभ बन कर अच्छा प्रभाव पैदा कर सकता है। इस लिये स्तोभ का भाव मनुष्य को केन्द्रित करने तथा उसी स्थान में थामे रखने में है। वेद में भी कई मन्त्र स्तोभ के इस रूप को स्पष्ट कर रहे हैं। उदाहरणार्थ दो एक मन्त्र इस प्रकार हैं—

सं यं स्तुभोऽवनयो न यन्ति समुद्रं न स्रवतो रोधचक्राः।

ऋ० १ । १९० । ७

जिस प्रकार (अवनयः) अगुँलियां किसी पदार्थ को थामने के लिये मिल कर जाती हैं। और जिस प्रकार बहने वाली ये नदियां मिलकर समुद्र में जा गिरती हैं। उसी प्रकार स्तुभ नामक ये स्तुतियां स्तुत्य पदार्थ को मिल कर थामती हैं।

मन्त्र का भाव यह है कि जिस प्रकार पांचों अंगुलियां किसी पदार्थ को जब थामती हैं, तब वे मिलकर उस पदार्थ की तरफ जाती हैं, और उसे थामें रखती हैं। और ये नदियां भिन्न २ दिशाओं से निकल कर अन्त में परस्पर मिलकर समुद्र में जा गिरती हैं। उसी प्रकार स्तुभ नामक भिन्न २ स्तुतियां भी मनुष्य के मन को स्तुत्य पदार्थ में थामें रखती हैं। मनुष्य का मन बहुत चञ्चल है। वह इधर उधर भागता है, एक स्थान पर केन्द्रित नहीं होता। परन्तु स्तुभ बनी हुई स्तुतियां सब दिशाओं से घेर कर उसे लाती हैं। अंगुलियों के समान मन को उसी स्तुत्य पदार्थ में पकड़े रखती हैं। दूसरे उदाहरण से यह बात स्पष्ट की गई है कि जिस प्रकार भिन्न २ दिशाओं से नदियां निकलती हैं, स्रवित होती हैं और अन्त में समुद्र में जा गिरती हैं। उसी प्रकार ये स्तुभ नामक स्तुतियां भी भिन्न २ रूपों में भिन्न २ उद्देश्यों को लिये हुए निकलती हैं। अन्त में समुद्रों के समुद्र उस भगवान् में ही जा गिरती हैं। इन उपर्युक्त उदाहरणों से यह भी भाव निकल सकता है कि मन सदा नयी से नयी वस्तु चाहता है। वह यदि एक प्रकार की स्तुति से उकता जाये तो

उसे नई प्रकार की स्तुति करने दो। परन्तु अन्त में वह स्तुति भी मन को उसी भगवान् में थामें रक्खे यही प्रयत्न करते रहना चाहिये।

ऋ० ५।८४।२ में स्तुभ धातु का स्तम्भन अर्थ में भी प्रयोग हुआ है। मंत्र इस प्रकार है—

"स्तोमासस्त्वा विचारिणि प्रतिष्टोभन्त्यक्तुभिः।"

(विचारिणि) हे विविध गति वाली पृथिवि! द्युलोक से पृथिवी तक आते हुए ये (स्तोम) स्तर तुमको अपनी व्यक्त शक्तियों द्वारा थामते हैं। इस मन्त्र का देवता पृथिवी है। इस पृथिवी में नानाविध गतियां हैं। प्रश्न यह होता है कि इतनी विविध गतियां होते हुए भी यह अपने पथ से च्युत क्यों नहीं होती। इसके लिये मंत्र में कहा कि द्युलोक से पृथिवी तक कई (स्तोम) स्तर हैं, जिन में अनेकों शक्तियां अव्यक्त रूप में मौजूद हैं। उन शक्तियों द्वारा गति करती हुई भी यह पृथिवी थमी रहती है। अपने मार्ग से च्युत नहीं होती। इस प्रकार यहां भी स्तुभ का अर्थ स्तम्भन ही है।

अब विचारणीय यह है कि मनुष्य में स्तम्भन भाव या स्तुतियों में स्तम्भन शक्ति किस प्रकार आ सकती है? इसके लिये वेद मन्त्र कहता है कि "सुष्टुभः स्वर्कात" अथर्व २०।२।१ अर्थात् अर्क रूपी अग्नि के उत्तम होने से सुष्टुभ भाव अर्थात् उत्तम स्तम्भन शक्ति पैदा होती है। अर्क के

सम्बन्ध में हम अपने विचार ऊपर प्रकट कर चुके हैं। जिस मनुष्य में अर्क की उत्पत्ति हो जाती है उसका मन स्वभावतः भगवान् की स्तुति में लगता है। इस प्रकार 'स्तुभ' थामने वाली शक्तियां हैं और ये मनुष्य के मन को स्तुत्य पदार्थ में थामे रखती हैं। जिस समय इन स्तुतियों द्वारा मनुष्य का मन एक स्थान पर स्थिर हो जायगा तो वहां का मल स्वयं विनष्ट हो जायेगा। इस प्रकार स्तोभ नामक स्तुतियां भी वल व वासना को विनष्ट करने का एक साधन हैं।

सोमपान की मस्ती में—

ऋ० २। १५। ८ में एक मन्त्र आता है, जिसमें यह कहा गया है कि इन्द्र सोम की मस्ती में वलासुर का विनाश करता है।

सोम क्या है? यह एक बड़ा विवादास्पद विषय है। इस सम्बन्ध में हमने अन्यत्र ही विस्तार से दिखाया है। संक्षेप में यहां इतना कहा जा सकता है कि सोम एक दिव्य रस है। द्युलोक व अन्तरिक्ष आदि में सर्वत्र व्यापक है। (त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षम्) जल का आश्रय लेकर सब औषधी व वनस्पतियों में आ रहा है (त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो ऽजनयस्त्वं गाः। यजु० ३५।१३) जो मनुष्य इस सोम का मुख्यार्थ हिमालय आदि पर्वत पर होने वाली सोमलता में करते हैं, वे इसकी महत्ता को घटा रहे हैं। देखा जाये तो सभी औषधियां आदि सोमलतायें हैं। परन्तु हिमालय पर

होने वाली किसी विशेष लता को क्यों सोमलता कहा जाने लगा ? इसका कारण हमें तो यह प्रतीत होता है कि सोम सब औषधियों में न्यूनाधिक मात्रा में आरहा है। परन्तु हिमालय में होने वाली लता विशेष में सर्वाधिक मात्रा में सोम आता है। इस लिये उसको सोमलता नाम दे दिया गया। परन्तु सोम का मुख्यार्थ सोमलता में कर देना, यह युक्ति संगत नहीं है। (पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमोभूत्वा रसात्मकः-गीता) सब औषधियों को पुष्टि व अनुप्राणित करने वाला सोम तो व्यापक होना चाहिये। यह विषय बहुत व्यापक है इसको हम विस्तार से अन्यत्र ही दिखायेंगे।

कहने का भाव यह है कि सोम एक दिव्य रस है। जिस मनुष्य ने उस दिव्य रस का पान कर लिया, उसकी सब वासनाएँ व सब बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। प्रश्न यही है कि इस दिव्य रस सोम का पान कैसे करें ? इसके उत्तर में संक्षेप में यहां यही कहा जा सकता है कि यदि औषधियां आदि अन्तरिक्ष में व्यापक उस सोम को ले सकती हैं, तो मनुष्य भी उस सोम को सीधा अन्तरिक्ष से ले सकता है। उसके साधन वेदों व ब्राह्मणग्रन्थों में विस्तार से बताये गये हैं, जिनको हम सोम सम्बन्धी पुस्तक में स्पष्ट करेंगे। यहां संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सोम द्युलोक से पृथ्वी की ओर आ रहा है। इस लिये हमें उस सोम को पाने के लिये दिव्य मन द्वारा द्युलोक की ओर आरोहण करना चाहिये।

सप्तम अध्याय

ब्राह्मणग्रन्थ और वलासुर

ब्राह्मणग्रन्थों में भी इस वलरूपी आवरण के विनाश के कई उपाय बताये हैं। वे सब उपाय वहां कथानकों में प्रच्छन्न तथा रहस्यमय ढंग से रक्खे गये हैं। कथानक तो ब्राह्मणों में कई आते हैं। परन्तु हमने इस पुस्तक में केवल दो कथानकों पर विचार किया है। एक कथानक ताण्ड्यमहाब्राह्मण में आता है और दूसरा ऐतरेय ब्राह्मण में। ताण्ड्य महाब्राह्मण के कथानक को हमने बहुत संक्षेप से इस पुस्तक में दिखाया है। ऐतरेय ब्राह्मण के सम्पूर्ण कथानक की भी यहां व्याख्या नहीं की है। केवल कथानक भाग की ही व्याख्या इसमें आयी है। यदि कथानक में आये सम्पूर्ण मन्त्रों, परिभाषाओं तथा तदनुकूल आध्यात्मिक प्रक्रियाओं की व्याख्या की जावे तो बहुत ही विस्तार हो जाये। इस लिये उदाहरण के रूप में हमने कथानक के कुछ भाग की व्याख्या करदी है।

ऐतरेय ब्राह्मण का यह सम्पूर्ण कथानक एक प्रकार से बालखिल्य ऋचाओं से सम्बन्ध रखता है। इन वालखिल्य ऋचाओं का पादविभाग व अर्धविभाग के रूप में जैसा २ विनियोग किया गया है, उस आधार पर शरीर म भी वैसे ही करने आदि सब बातों के स्पष्टीकरण की अत्यन्त आवश्यकता है। हमने विस्तार भय से उन सब को यहां छोड़ दिया है। अब हम ताण्ड्य महाब्राह्मण के कथानक पर विचार करते हैं।

वलासुर सम्बन्धी कहानी--

ताण्ड्य महाब्राह्मण १६।७ में वलासुर के सम्बन्ध में एक कथानक आता है। वह इस प्रकार है—

असुराणां वै वलस्तमसा प्रावृतोऽश्मापिधानश्चासीत्। तस्मिन् गव्यं वस्वन्तरासीत्। तं देवा नाशक्नुवन् भेत्तुं ते बृहस्पतिमब्रुवन्निमान् न उत्सृजेति स उद्भिदैव वलं व्यच्यावयद् वलभिदाभिनत् तानुत्सेधेनैवोदसृजन्निषेधेन पर्यगृह्णात्। ता० १९।७।१

असुरों के मध्य में एक वल नाम का असुर था। देवता मुझे ढूंढ न सकें—यह सोच कर गहन अंधकार से घिरे हुए तथा पाषाणों से आच्छादित किसी बिल में वह रहता था। उस बिल में देवताओं का गोधन उसने छिपाया हुआ था। जब देवता उस बिल को भेदन न कर सके तब उन्होंने बृहस्पति से प्रार्थना की, कि हे बृहस्पति ! तू हमारी इन गौवों को बिल

से बाहिर निकाल दे। बृहस्पति ने उन देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर 'उद्भिद्' नामक याग द्वारा वलासुर को बिल से च्युत अर्थात् शिथिल कर दिया और 'वलभिद्' नामक याग द्वारा उस वलासुर का भेदन कर दिया। इसके अनन्तर उत्सेध नामक साम द्वारा उन पशुओं को वहां से निकाला और निषेध साम द्वारा उनको चारों ओर से पकड़ लिया।

यह एक कथानक है। इसी वलासुर के सम्बन्ध में और भी कथानक आते हैं, मंत्रों के आधार पर कई कथानक बनाये भी जा सकते हैं। परन्तु सब में एक बात सामान्य (Common) है, और वह यह कि वल (वल संवरणे संचरणे च) ने गौवों को घेरा हुआ है। यह वल शब्द संवरणात्मक तथा संचरणात्मक वल धातु से बनता है। इस लिये गौवों को घेरने वाले इस वल को गौवों का बाड़ा कहें या असुर कहें बात एक ही है। इस वल को भेदन कर गौवों को बाहिर निकालना है।

अब हम इस कथानक का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करते हैं। गर्भावस्था में 'कलल' से चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों तथा उनके गोलकों की सामान्य उत्पत्ति, और इन्हीं इंद्रियों की दिव्य उत्पत्ति दोनों में इस कथानक का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

बृहस्पति ज्ञान-विज्ञान का अधिपति है। मानव शरीर में इसका स्थान मस्तिष्क है। और चक्षु आदि देवों का स्थान

भी मस्तिष्क है। गर्भावस्था में देवों (इंद्रियों) की गौवों (रश्मियों) को वल ने घेरा हुआ था। अर्थात् वे इन्द्रियां शिर में अभी अपने २ स्थानों में प्रकट नहीं हुई थीं। देवों ने शिर में विद्यमान बृहस्पति रूप आत्मा से प्रार्थना की कि ये हमारी गौवें (रश्मिएँ) वल रूपी आवरण से बाहिर निकाल दीजिये। बृहस्पति ने उद्भिद् (उत्+भेदन) अर्थात ऊपर की ओर को भेदन कर वल (आवरण) को अपने स्थान से शिथिल कर दिया। और फिर 'वलभिद' मांस व चर्म निर्मित उस वल नामक आवरण को भेदन छेदन द्वारा हटा दिया। नाक, कान, चक्षु आदि इन्द्रियों तथा इंद्रिय गोलकों का निर्माण इस प्रकार हुआ है। जब इन्द्रिय गोलकों का निर्माण हो गया, और उन पर विद्यमान वल नामक आवरण दूर हो गया, तब 'उत्सेध' (उत्+षिधगतौ) अर्थात् ऊपर को गति द्वारा इन्द्रिय-सम्बन्धी रश्मियों को बाहिर की ओर को निकाला, परन्तु वे रश्मियें बाहिर ही न रह जायें, इस लिये निषेध साम (साम = प्राण) द्वारा उन्हें पकड़े रक्खा।

गर्भावस्था में विद्यमान 'कलल' से देवों (इन्द्रियों) की गौरूपी रश्मियें आवरण को हटाकर बाहिर की ओर कैसे जाती हैं? उसका यह एक आलंकारिक वर्णन है। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि वलासुर के आवरण का यह बाह्य स्थूल घेरा ही दूर हुआ है। अभी असली घेरा तो बचा ही हुआ है। उस सूक्ष्म तथा आन्तरिक वल रूपी आवरण को

मनुष्य अध्यात्म में पहुंच कर ही दूर कर सकता है।

ऐतरेय ब्राह्मण और वलासुर--

वलासुर के सम्बन्ध में ऐ.[1] ब्रा. ६।२४ में भी एक कथानक आता है। वह इस प्रकार है—

एक वल नामक असुर था। उसने बृहस्पति आदि देवों की गौएँ चुराकर अपने घर में छिपा दीं। देवताओं ने अपनी गौओं को वलासुर के घर में देख लिया। उन्होंने यज्ञ द्वारा उन गौओं को प्राप्त करना चाहा। 'पृष्ठ्य षडहन्' नामक याग के छटे अहन् (दिन) द्वारा उन्होंने वे गौएँ प्राप्त कीं। उन देवताओं ने यह किया कि प्रातः सवन में नभाक ऋषि वाले मन्त्रों द्वारा वल नामक असुर को पहले

---

१. अथ पृष्ठ्यस्य षडहस्य षष्ठेऽहनि धिष्ण्याख्य शस्त्रक्लृप्तिं सूक्तं विधातुमाख्यायिकामाह—

देवावले गाः पर्यपश्यँस्ता यज्ञेनैवेप्सँस्ताः षष्ठेनाह्नाऽऽप्नुवँस्ते प्रातः सवने नभाकेन बलमनभयँस्त यदनभयन् अश्रथयन्नेवैनं तत्तउतृतीय सवने वज्र एवालाखिल्याभि र्वाचः कूटेनैकपदया वलं विरुज्य गा उदाजन् तथैवैतद् यजमानाः **प्रातः सवने** नभाकेन वलं नभयन्ति तं यन्नभयन्तीं श्रथयन्त्येवनं तत् तस्माद्धोत्रकाः प्रातः सवने नाभाकाँस्तृचा ञ्छंसन्ति "यः ककुभोनिधारय–ऋ ८।४१।४ इति मैत्रावरुणः "पूर्वीष्ट इन्द्रोपमातयः ऋ. ८।४०।६ इति ब्राह्मणाच्छंसी" ताहि मध्यंभराणाम् "ऋ. ८४०।३ इतिं अच्छावाकः। तउतृतीय सवने वज्रेण वालखिल्याभि र्वाचः कूटेनैकपदया वलं विरुज्य गा आप्नुवन्ति।

शिथिल किया। और फिर तृतीय सवन में वालखिल्याओं से निर्मित एक पदा वाचः कूट रूपी वज्र के प्रहार से वलासुर को भग्न कर अपनी गौवों को उनके घर से निकाल लाये। इसी प्रकार यजमान भी प्रातः सवन में पहले नभाक ऋषि के मन्त्रों द्वारा अपने २ वल को शिथिल करते हैं। और फिर तृतीय सवन में वालखिल्य ऋचाओं के एकपदा वाचः कूट रूपी वज्र के प्रहार से वलासुर को विनष्ट कर अपनी गौएँ प्राप्त करते हैं।

यह एक कथानक है। मनुष्य के दिव्य ज्ञान पर पड़े हुए आन्तरिक आवरण (वल) को विनष्ट करने के लिये ऐतरेय ब्राह्मण में यह आता है। ताण्ड्य ब्राह्मण के कथानक में तथा इस में बड़ी विभिन्नता है। उस में संक्षेप में साधनों का निर्देश मात्र किया है। और इसमें पर्याप्त विस्तार से साधन बताये हैं। परन्तु प्राचीन परिपाटी के अनुसार यह कथानक भी गुह्य वर्णनों व परिभाषाओं से भरा पड़ा है। जब तक ये परिभाषाएँ (Technical Terms) आधुनिक भाषा में स्पष्ट न की जायेंगी, तब तक कथानक के भाव को पूर्ण रूप से समझना कठिन है। इस लिये सब से पहले हम उपर्युक्त कथानक में आयी परिभाषाओं का स्पष्टीकरण करते हैं।

एक 'पृष्ठ्य षडहन्' नामक याग है। उस याग के छटे दिन यह कहानी सुनायी जाती है। और यह कहानी इस याग के छटे दिन इस लिये सुनाई जाती है कि जिससे धिष्ण्य

नाम के शस्त्र का सामर्थ्य पता चल जाये। इसका भाव यह है कि जिस प्रकार बाह्य शत्रुओं का विनाश करने के लिये नाना-विध अस्त्रों व शस्त्रों के गुण गाये जाते हैं। उसी प्रकार आन्तरिक शत्रुओं के विनाश के लिये भी शस्त्र होते हैं। उनमें एक धिष्ण्य नामक शस्त्र भी है। उसी धिष्ण्य नामक शस्त्र को वलासुर के विनाश के द्वारा प्रशंसा की गई है। अब इस आख्यायिका का रहस्य समझने के लिये सब से पहले हमें 'पृष्ठ्य षडहन्' याग क्या है ? इस पर विचार करना चाहिये। 'पृष्ठ्य षडहन्' में भी हम सब से पहले 'षडहन्' पर विचार करते हैं।

षडहन्--(द्युलोक व मस्तिष्क)

षडहन् (षट्+अहन्) का अर्थ है छटा अहन् अर्थात् दिन। अहन् शब्द वैदिक व लौकिक साहित्य में मुख्यतया दिन अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु कई स्थलों को देखने से यह प्रतीत होता है कि अहन् शब्द सर्वत्र दिन अर्थ में नहीं घटाया जा सकता। अहन् शब्द के 'दिन' अर्थ से भिन्न अन्य अर्थों में एक अर्थ हमें 'विभाग' भी प्रतीत होता है। अथर्व ८। ९। ६ में एक मन्त्र आता है, जहां कि छटा अहन् द्युलोक को बताया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि पृथिवी से लेकर द्युलोक तक ६ अहन् अर्थात ६ विभाग हैं। प्रथम अहन् (विभाग) में पृथ्वी आती है और छटे अहन्

में द्युलोक आता है। आधुनिक विज्ञान (Astronomy और Astro-Physics आदि) में भी कोई ऐसे निश्चित विभाग नहीं हैं, जो कि वेद व ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं। इन त्रिभागों में कई २ स्तर (Sphers या Layers) भी हैं जिन की निश्चित गिनती की हुई है। यह सब किस आधार पर गणना की हुई है ? क्या कोई परीक्षणशाला (Laboratory) थी या अपनी आध्यात्मिक शक्ति थी। इस सम्बन्ध में यहां कुछ नहीं कहा जा सकता। यह हम फिर कभी विस्तार से आपके समक्ष रक्खेंगे। द्यावा पृथिवी को ६ भागों में विभक्त करने वाला अथर्व का वह मन्त्र इस प्रकार है—

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभिषष्ठमन्हः।

अथर्व० ८। ६। ६

(वैश्वानरस्य) वैश्वानर अग्नि की (प्रतिमा) आकृति या रूप (उपरि द्यौः यावत्) ऊपर द्युलोक तक है। (अग्निः) यह वैश्वानर अग्नि (रोदसी) द्यावापृथिवी को (विबबाधे) बांधे हुए है। (ततः अमुतः) वहां उस (षष्ठात) द्यौ रूपी छटे अहन् से (स्तोमाः आयन्ति) स्तोम (स्तर) पृथिवी की ओर आ रहे हैं। और (इतः अह्नः) इस पृथिवी रूपी अहन् (विभाग) से (षष्ठमभि) द्युलोक रूपी छटे अहन् की ओर (उत्यन्ति) ऊपर की ओर को जा रहे हैं।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि इस द्यावापृथिवी को वैश्वानर अग्नि ने बांधा हुआ है। वह वैश्वानर (विश्व+नर) अग्नि विश्व की नेता है। इस ब्रह्माण्ड में पृथिवी से लेकर द्युलोक तक जो नाना प्रतिमाएँ हैं, वे सब इसी अग्नि के कारण हैं। इस द्यावा पृथिवी को मन्त्र में ६ में विभक्त किया गया है। और उन विभागों को अहन् शब्द से निर्देश किया है। षष्ठ अहन् द्युलोक है। इस लिये प्रथम अहन् पृथिवी हुई। इन द्यावा पृथिवी के मध्य में कई स्तोम हैं, जिनको कि हिन्दी भाषा में स्तर (spheres) कह सकते हैं। और ये स्तर ऊपर से नीचे को और नीचे से ऊपर को जा रहे हैं। यहां हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि याज्ञिक कर्मकाण्ड के समय द्यावा पृथिवी सम्बन्धी ६ अहन् की यह प्रक्रिया यज्ञ द्वारा नाटक रूप में दिखाई जाती होगी तो उस समय वह यज्ञ के छटे दिन ही दिखाई व की जाती होगी। इस लिये वहां तो 'षडहन्' का अर्थ छटा दिन हो जायेगा। परन्तु ब्रह्माण्ड में 'अहन्' शब्द विभाग के अर्थ में आया है और 'षडहन्' द्युलोक के लिये आया है। 'षडहन्' द्युलोक को कहते हैं, इस सम्बन्ध में गोपथ ब्राह्मण में आता है।

'द्यौर्वै देवता षष्ठमहर्वहति' गो० उ० ६।११

अर्थात् द्यु सम्बन्धी देवता छटे अहन् को वहन करती है। द्यावा पृथिवी के इन ६ विभागों को वेद में अन्य शब्दों से

भी प्रकट किया गया है। संक्षेप में उन्हें भी हम दिखा देते हैं।

'षडाहु र्द्यावापृथिवी' अथर्व ८।९।१६

अर्थात् द्यावा पृथिवी ६ हैं ऐसा कहते हैं। ये द्यावा पृथिवी के ६ विभाग ही हैं। अब हम यह भी देखलेते हैं कि इन ६ विभागों की स्थिति क्या है ?

'तिस्रः दिवः तिस्रः पृथिवीः' अथर्व ४।२०।२

तीन द्युलोक हैं अर्थात् तीन द्युलोक के विभाग हैं और तीन पृथिवी के हैं। इसी बात को अथर्व ११।३।२० में और भी स्पष्ट किया है, वहां आता है कि—'द्यौ र्भू मि स्त्रयोऽवरपरं श्रिताः' द्युलोक व पृथिवी लोक के तीन २ इधर उधर आश्रित हैं। अर्थात् द्युलोक के तीन विभाग अवर अर्थात् नीचे पृथिवी की ओर आ रहे हैं, और पृथिवी के तीन विभाग परे अर्थात् द्युलोक की ओर जा रहे हैं।

द्यावापृथिवी के ६ ओं विभागों के सम्बन्ध में अथर्व वेद के रोहित सूक्त १३।३।६ में भी संकेत किया गया है। वहां आता है कि,—

'यस्मिन षडुर्वीः पञ्चदिशो अधिश्रिताश्चतस्र आपो यज्ञस्य त्रयोऽक्षराः। यो-अन्तरा रोदसी'—

अर्थात् जो रोहित द्यावा पृथिवी के मध्य में स्थित है।

जिस में ६ विस्तार (उर्वीः) हैं। पांच दिशाएँ हैं। चार जल हैं और यज्ञ के तीन अक्षर अर्थात् अविनाशी तत्व हैं।

इस मन्त्र को समझने के लिये हमें निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिये। एक तो यह कि यहां भगवान् को रोहित रूप में देखा गया है। रोहित भगवान् की रोहण शक्ति को द्योतित करता है। दूसरे इस मन्त्र से यह भी पता चलता है कि रोहित का यह सब वर्णन (य अन्तरा रोदसी) द्यावा पृथिवी के मध्य का ही है। द्यावा पृथिवी को "षडुर्वीः" कहके ६ विस्तृत क्षेत्रों में विभक्त किया गया है। और फिर इस रोहित की ५ दिशाएँ हैं। पूर्व पश्चिम आदि ४ दिशाएँ और एक ऊपर की दिशा। ये मिलकर ५ दिशाएँ हो जातीं हैं। प्रश्न हो सकता है कि नीचे की ६ टी दिशा का संकेत क्यों नहीं किया ? इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि रोहित अर्थात् रोहण की दृष्टि से नीचे की दिशा का कोई मूल्य नहीं। क्यों कि रोहण नीचे को न जाकर ऊपर को ही जाता है। यही सामान्य नियम है। वृक्ष वनस्पति आदि सब ऊपर को ही जाते हैं। आगे (चतस्र आपः) चार जल हैं। अर्थात पृथिवी व द्युलोक को छोड़ कर इनके मध्य के जो ४ विभाग हैं, वे चार जलीय विभाग हैं। इन में न्यूनाधिक रूप में जल ही मिलेगा। और इस रोहण-यज्ञ के तीन अक्षर अर्थात् अविनाशी तत्व हैं, जिन तीनों के मिलने से इस द्यावा पृथिवी में सर्वत्र रोहण हो रहा है। वे तीन अविनाशी तत्व परमात्मा, जीवात्मा, तथा प्रकृति हैं।

इस प्रकार संक्षेप में हमने यह देख लिया कि द्यावा पृथिवी के ६ विभाग मन्त्रों में कई दृष्टियों से दिखाये गये हैं। यदि हम इन विभागों को नाम देना चाहें तो इस प्रकार दे सकते हैं—

तीन पार्थिव-विभाग--

१. पृथिवी।

२. प्राणमय लोक।

३. मनोमय लोक अर्थात् चन्द्र लोक।

चन्द्रमा पृथिवी के क्षेत्र में हैं। पृथिवी के आकर्षण बल से ही वह पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। इस लिये पृथ्वी का क्षेत्र चन्द्रमा तक है।

तीन द्यौ-विभाग--

द्युलोक के तीन विभागों के नाम निम्न मन्त्र में आते हैं, वे इस प्रकार हैं—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते।। अथर्व १८।२।४८

१. उदन्वती द्यौ।

२. पीलुमती।

३. प्रद्यौ।

इस प्रकार द्यावा पृथिवी के उपर्युक्त नाम निर्देशपूर्वक ६ विभाग दिखाने का प्रयत्न किया। इनमें छठा विभाग

'षडहन्' है जो कि द्युलोक है। ब्रह्माण्ड में तो षडहन द्युलोक हुआ। इसी आधार पर पिण्ड में अर्थात् मानव शरीर में यह सिर होगा। श० प० ब्रा० में जहां 'चयन-निरूपण' का विषय है, वहां चयन की दृष्टि से शरीर के ६ विभाग किये हैं। इन में छटा विभाग सिर है। और ताण्ड्य महाब्राह्मण २२।४ में तो 'षडहन्' से मुख्य रूप से सिर का ही ग्रहण किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में इस 'षडहन्' को देवक्षेत्र[1] बताया गया है। अर्थात् वहां देवता निवास करते हैं। जो मनुष्य मर कर (सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति) सूर्य द्वारा इस द्युलोक में पहुँच जाते हैं, वे देवताओं के क्षेत्र में जा पहुँचते हैं। परन्तु इस पृथ्वी पर जीते हुए भी जो मनुष्य सदा सिर में निवास करते हैं, वे भी देवताओं के क्षेत्र में निवास करते हैं। क्योंकि मनुष्य शरीर में सिर देवताओं का क्षेत्र है। इससे हमें यह संकेत मिलता है कि जो मनुष्य मृत्यु के अनन्तर देव लोक में उत्पन्न होना चाहता है उसे इस पृथ्वी पर रहते हुए सदा सिर में ही निवास करना चाहिये। सिर की

---

१. 'देवक्षेत्रं षष्टमहः' गो० उ० ६। १०

अर्थात् छटे अहन् से कहे जाने वाला यह सिर व द्युलोक देवताओं का निवास स्थान है।

'देवक्षेत्रं वा एत आगच्छन्ति ये षष्ठमहरागच्छन्ति। ऐ०ब्रा० ५।६

अर्थात् जो छटे अहन् में आते हैं वे देवक्षेत्र में पहुँचते हैं।

ओर जाना देवयान मार्ग है। मनुष्य के विचरने के कई स्थान हैं। प्रायः मनुष्य बाह्य विषयों को ग्रहण करने वाली भोग-प्रधान इन्द्रियों में ही विचरता है। इस लिये वह बार २ इस पृथ्वी पर ही जन्म लेता है। परन्तु जो मनुष्य देव लोकों में उत्पन्न होना चाहता है, उसे शरीर के देवलोकों में ही विचरना चाहिये।

इस प्रकार षडहन् का हमने पिण्ड व ब्रह्माण्ड की दृष्टि से संक्षिप्त विवेचन किया। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि कई दृष्टियों से तथा क्षेत्र भेद से 'षडहन्' के अनेक स्वरूप हैं। परन्तु इस प्रसंग में हमें 'षडहन्' के सिर रूप पर ही विचार करना है।

पृष्ठ्य--(स्वर्गलोक को स्पर्श करना)

अब हम 'पृष्ठ्य' शब्द पर विचार करते हैं। श० प० ब्रा० १२।२।२।१ में 'पृष्ठ्य' की यह व्युत्पत्ति दिखाई है।

'सर्वैः स्तोमैः सर्वैः पृष्ठैः गुरुभिः सामभिः स्वर्गं लोकमस्पृशन् यदस्पृशंस्तस्मात् पृष्ठ्यः। श०प० १२।२।२।१

'पृष्ठ' पृष्ठ्य इति धीराः वदन्ति। श० प० १२।२।१।७

सब स्तोमों (स्तरों) सब पृष्ठों तथा बड़े २ सामों से स्वर्ग लोक का स्पर्श किया। जो स्पर्श किया, इसी कारण

स्वर्गलोक को पृष्ठ्य कहने लगे।······धीर पुरुष पृष्ठ को पृष्ठ्य भी कहते हैं।

इसी प्रकार गोपथ[1] ब्राह्मण ४।२ में भी पृष्ठ्य की यही व्युत्पत्ति दिखाई है। वहां आता है कि स्पर्श के सब साधनों द्वारा अंगिरसों ने स्वर्गलोक को स्पर्श किया। स्पर्श करने के कारण स्वर्गलोक को स्पृश्य कहने लगे। इस स्पृश्य स्वर्ग को ही पृष्ठ्य कहते हैं।

इन उपर्युक्त प्रमाणों से यह पता चलता है कि जिस यज्ञ में स्वर्गलोक को स्पर्श किया जाये, उसको स्पर्श करने के कारण पृष्ठ्य कहते हैं। मानव पिण्ड की दृष्टि से इसका भाव यह है कि मनुष्य का सिर व मस्तिष्क ही स्वर्गलोक है। मनुष्य के सिर व मस्तिष्क को ही सब साधनों द्वारा स्पर्श करना है। विचारणीय यह है कि वह किस प्रकार स्पर्श करना है ? इस दृष्टि से उद्धरण का भाव यह होगा कि मनुष्य शरीर में जितने भी स्तोम अर्थात् स्तर हैं, उन सब के द्वारा तथा शरीर में साम्यावस्था व समता पैदा करने वाली प्राण (साम) शक्तियों द्वारा मस्तिष्क को जो छूना है, उसके छूने से मस्तिष्क स्पृश्य व पृष्ठ्य कहलाता है। इसके द्वारा मनुष्य को ध्यान करने का एक उपाय बताया गया है। और ध्यान की एक अवस्था का

---

१. सर्वैः पृष्ठ्यैः स्वर्गं लोकमभ्यस्पृशन्त यदभ्यस्पृशन्त तस्मात्स्पृश्यस्तं वा एतं स्पृश्यं सन्तं पृष्ठ्य इत्याचक्षते।

चित्र खींचा गया है। वह यह कि मनुष्य में जितने भी उदर, छाती, हृदय आदि स्तोम अर्थात् स्तर हैं सब में मन व प्राण शक्ति फैल कर कार्य कर रही है। परन्तु मस्तिष्क को स्पर्श करने अर्थात् मस्तिष्क में अथवा मस्तिष्क के ऊपर ध्यान को केन्द्रित करने के लिये यह आवश्यक है कि सब तरफ से ध्यान को हटाकर अर्थात् मन व प्राणशक्ति को सब ओर से समेट कर मस्तिष्क में केन्द्रित किया जाये। जब ध्यान बहुत ही उत्कृष्ट हो जाता है तो एक प्रकार की समाधि अवस्था पैदा हो जाती है। इससे सम्पूर्ण शरीर की 'सामशक्ति' अर्थात् प्राण शक्ति अपना २ कार्य बन्द करके एक स्थान पर केन्द्रित हो जाती हैं। इस प्रकार सब स्तोमों (स्तरों) और सब प्राण-शक्तियों (साम) के द्वारा मस्तिष्क को स्पर्श करना चाहिये। साम प्राणशक्ति को कहते हैं। परन्तु इस साम शब्द में एक गूढ़ भाव यह निहित है कि प्राणशक्ति समता व साम्यावस्था में बढ़ती है। और समता के होने पर ही ध्यान भी ठीक हो सकता है। इस लिये सर्वप्रथम मन को शान्त करके अपने अन्दर समता पैदा करने का प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार शरीर के सब अंगों में शान्ति व समता पैदा करके सब अव-यवों की प्राणशक्ति को समेट कर मस्तिष्क में केन्द्रित करना चाहिये। इस प्रकार करने से मस्तिष्क में देवों (इन्द्रियों) की गौओं अर्थात् दिव्य शक्तियों को वलासुर रूपी आवरण ने

जो ढका हुआ है, उसको विनष्ट कर दिया जाता है। और दिव्य शक्तियां आवरण से बाहिर आ जाती हैं।

इसी उपर्युक्त बात को ता० ब्रा० में निम्न शब्दों में प्रकट किया गया है।

'पृष्ठ्यः षडहो भवति प्रत्यक्षमृद्धये' ता० ब्रा० २२।४।६ प्रत्यक्षं ह्येतेन सप्त ऋषय आर्ध्नुवन् ऋद्ध्या एव।

अर्थात् 'पृष्ठ्य षडहन्' याग स्पष्ट रूप से ऋद्धि के लिये है। सप्त ऋषि इस याग के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुए।

सप्त ऋषि क्या हैं? उनके सम्बन्ध में इसी प्रकरण में कहा कि—

'सप्तशिरसि प्राणा प्राणा इन्द्रियाणि इन्द्रियाण्येवैतेनाप्नोति'

ता० ब्रा० २२।४।३

सिर में जो सात प्राण हैं, वे इन्द्रियां हैं। सिर में सप्त प्राण व इन्द्रियां आधुनिक मेडिकल साइन्स के आधार पर मस्तिष्क के ७ अन्तः केन्द्रों ( ) में रहने वाली शक्तियां हैं जो कि इस प्रकार हो सकती हैं। १ आज्ञा केन्द्र (Motor area) २ प्रज्ञाकेन्द्र (Sensory area) ३. श्रवण केन्द्र (Hearing) ४. वाणी केन्द्र (Speach) दृष्टि केन्द्र (Vision) ६. घ्राण केन्द्र (Smell) ७ स्वाद केन्द्र (Taste)। इन्हीं इन्द्रियों को इस पृष्ठ्य षडहन् याग द्वारा वह प्राप्त करता है। इससे यह स्पष्ट है कि पृष्ठ्य षडहन् याग

द्वारा जो सिर में पहुँचा जाता है, वह सिर में विद्यमान् सात प्राणों अर्थात् इन्द्रियों की ऋद्धि वृद्धि के लिये ही पहुँचा जाता है। इससे होता यह है कि इन्द्रियों की दिव्य शक्तियों पर जो आवरण पड़ा हुआ है वह नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार 'पृष्ठ्य षडहन्' याग मानव शरीर में यह है कि अपनी मानसिक, प्राणिक सब प्रकार की शक्तियों को शरीर के सब अवयवों में से समेट कर और उनमें साम्यता व सम अवस्था पैदा करके मस्तिष्क में ले जाना और वहीं केन्द्रित कर देना। मानव-पिण्ड में पृष्ठ्य षडहन् का यह रूप है। इस षडहन् याग का वर्णन अन्य कई ब्राह्मणों में बहुत विस्तार से आता है। ऐतरेय ब्राह्मण में जो नाभानेदिष्ठ का कथानक आता है, जिसका संक्षिप्त भाव यह है कि नाभानेदिष्ठ के पिता ने अपने सब पुत्रों में सम्पत्ति का बंटवारा कर दिया। नाभानेदिष्ठ ही केवल बच रहा जिसको कुछ न मिला। पिता ने उससे कहा कि अंगिरस लोग स्वर्ग प्राप्ति के लिये यज्ञ कर रहे हैं। वे छटे अहन् में आकर मोह में पड़ जाते हैं। तुम जाकर उनको ये दो सूक्त समझाओ जिससे कि वे मोह में न पड़कर स्वर्गलोक में पहुंच जायें। स्वर्गलोक में जाते हुए वे तुम्हें सहस्रों पशु दे जायेंगे। यह एक कथानक का पूर्वांश है। यह कोई ऐतिहासिक कथानक नहीं है। द्युलोक व मस्तिष्क सम्बन्धी गुह्य वर्णन है। अध्यात्म का एक ऊँचा रहस्य है जिसको कि छटे अहन् से समझाया है। इसी प्रकार ब्राह्मण-

ग्रन्थों में और भी कई कथानक आते हैं जिनको कि हम अन्यत्र ही विस्तार से दिखायेंगे। अब हम धिष्ण्य शब्द क्या है ? इसको भी देखते हैं।

धिष्ण्य—

वैदिक साहित्य में धिष्ण्य शब्द भी पारिभाषिक शब्द के तौर पर प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मणादि ग्रन्थों में कई प्रकार के धिष्ण्य गिनाये गये हैं। उन सब पर यहां विचार करना कठिन है। यहां केवल इतना ही दिखाना पर्याप्त है कि बलासुर के हनन में धिष्ण्य क्या हो सकता है ? धिष्ण्य शब्द की व्युत्पत्ति 'धिषणाभवः' यह हो सकती है अर्थात् धिषणा में होने वाला। धिषणा शब्द का भी निर्वचन नि० ८।३ में इस प्रकार दिखाया है।

'धिषणा वाग्धिषे दधात्यर्थं। धीसादिनीति वः। धीसानिनीति वा'

अर्थात् धिषणा का एक अर्थ वाणी भी है, जो कि अर्थ को धारण करती है। परन्तु धिषणा के जो अन्य दो अर्थ हैं, उनके आधार पर धिषणा एक वह पात्र है या अवयव है, जिस में धी विराजमान है। 'धी' वह है जो धारण किया जाये। श्री अरविन्द ने धी का अर्थ विचार किया है। विचार रूप में ही हमारे मस्तिष्क के विशिष्ट पात्र में कोई तत्व आया करता है। इस लिये आरम्भ में विचार या ज्ञान

रूप में जो भी अवतरित होता है, वह 'सात रूपों' 'सप्तशीर्षाणम्' में विभक्त हो जाता है। इस लिये धिषणा वह पात्र है, जिस में आरम्भ में 'धी' नामक ज्ञान अवतरित होता है। भौतिक वादियों की दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि शिर का वह अवयव (organ) 'धिषणा' है, जहां कि प्रकम्पन द्वारा विचारों का उद्बोधन होता है। इस धिषणा नामक अवयव के भी जब और छोटे २ विभाग किये जायें तो वे धिष्ण्य कहलायेंगे। आन्तरिक यज्ञों की प्रतिकृति कर्मकाण्ड में धिष्ण्यों के लिये यह कहा गया है कि—

'अग्नीनामाश्रयभूता मृदा निर्मिता सप्त स्वल्प वेदिका'

अर्थात् अग्नि के आश्रयभूत मिट्टी से निर्मित सात छोटी २ वेदियां बनायी जाती हैं, जिनको धिष्ण्य कहते हैं।

बाह्यकर्मकाण्ड में तो ये अग्नि के ७ कुण्ड या वेदियां हैं। परन्तु अन्दर मनुष्य के शरीर में क्या हो सकते हैं यह विचारणीय है। इस पर हमारा विचार यह है कि मस्तिष्क में धी अर्थात् विचार को अपने अन्दर रखने वाला यह पात्र धिषणा है, जिसके ७ विभाग होगये हैं। ये ७ विभाग सिर के ऐन्द्रियिक केन्द्र (Brain Centres) हैं जो कि हम पहले दिखा चुके हैं। संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में इन्हें गन्धर्व कहा गया है। ये गन्धर्व सोम के रक्षक हैं। इस स्थल पर गन्ध , उन्हें कहेंगे जो प्रकाश किरण (गांधारयति)

ऊपर से आवे उसको धारण करें और बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्रकट करें।

इस प्रकार 'धी' रूपी ज्ञान, जो कि इन केन्द्रों द्वारा सर्व प्रथम धारण किया जाता है—हमारे अन्दर प्रकाश पैदा करता है। इस लिये आवश्यकता इस बात की है कि ये धिषणा के अन्तः केन्द्र जितने, सबल स्वस्थ तथा निर्मल होंगे उतना ही श्रेष्ठ ज्ञान हमें होगा। और हमारी इन्द्रियों पर पड़े आवरण का विनाश होता जायेगा। इस प्रकार वलासुर का विनाश अन्दर से शुरू होता है। ज्यों २ ये केन्द्र स्वच्छ तथा श्रेष्ठ बनते जाते हैं, त्यों त्यों दिव्य ज्ञान का अविर्भाव होता जाता है। इस प्रकार ये धिष्ण्य बलासुर के हनन में शस्त्र का काम देते हैं। अब प्रश्न यह रह जाता है कि इन धिष्ण्यों अर्थात् मस्तिष्क में विद्यमान ऐन्द्रियिक केन्द्रों को हम स्वच्छ, निर्मल तथा सबल कैसे बनावें जिससे कि आवरण विनष्ट हो जाये।

इस प्रकार हमने अभी तक इन तीन परिभाषाओं पृष्ठ्य, षडहन् तथा धिष्ण्य पर संक्षेप में विचार किया। इसका संक्षेप में भाव यह है कि जिस समय हम अपने शरीर में सर्वत्र फले हुए प्राण तथा मन आदि को समेट कर मस्तिष्क में केन्द्रित करते हैं, या मस्तिष्क का स्पर्श करते हैं तो उस समय धिष्ण्य अर्थात् इन्द्रियों के अन्तः केन्द्रों (Central nervous system) में विशेष शक्ति से कार्य करते हैं। और प्रबल प्राण

शक्ति व मनः शक्ति के मस्तिष्क में पहुंच जाने से देवासुर संग्राम भयंकर रूप धारण करता है। असुरों अर्थात् मस्तिष्क के सूक्ष्म से सूक्ष्म मलों का भी विनाश हो जाता है। और दूसरा कार्य यह होता है कि बुद्धि में जो ज्ञान ऊपर से छलनी (पवित्र) से छन कर आता है, यह अपने शुद्ध रूप में आना शुरू होता है। और शनैः शनैः दिव्यता में परिवर्तित होता जाता है।

अब हम कथानक द्वारा वलासुर के विनाश अर्थात् मलों के दूर करने में क्या प्रक्रिया प्रारम्भ होती है यह देखने का प्रयत्न करते हैं। ऊपर जो कुछ कहा गया है उसी का यह विस्तार है। केवल कुछ और सूक्ष्मता में पहुंचना है। वैसे कथानक का संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

देवाः वै वले गाः पर्यपश्यँस्ता यज्ञेनवेप्संस्ताः षष्ठेनाह्नाप्नुवन्—

अर्थात् देवताओं ने वलासुर के पास गौओं को देखा उन्होंने यज्ञ से उन्हें प्राप्त करना चाहा। इस प्रकार यज्ञ द्वारा छटे अहन् अर्थात् मस्तिष्क में पहुंच कर उन्होंने अपनी २ गौएँ प्राप्त कीं।

यह कथानक का संक्षिप्त सार है। कथानक का अगला भाग सब इसी का विस्तार है। अब हम उस विस्तार पर भी विचार करते हैं। वहां आता है कि

'ते प्रातः सवने नभाकेन वलमनभयन्'

अर्थात् प्रातः सवन में उन देवों ने नभाक ऋषि द्वारा उस वलासुर को शिथिल किया। अब सबसे प्रथम हम प्रातः सवन पर विचार करते हैं।

सवन--

प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन ये तीन सवन वैदिक साहित्य में आते हैं। इन तीनों सवनों के सम्बन्ध में हमने 'ऋभु देवता' नामक पुस्तक में भी विचार किया है। यह पुस्तक 'आर्यप्रतिनिधि सभा'पंजाब की तरफ से प्रकाशित हो चुकी है। इनको संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं। ये तीन प्रकार के निचोड़ व तीन परिश्रम हैं, जिनका संबन्ध लोकों से तथा भिन्न २ देवताओं से है। इनको तालिका में इस प्रकार रख सकते हैं।

सवन	लोक	शरीर	देवता
प्रातः सवन	पृथ्वी	उदर	अग्नि
माध्यन्दिन सवन	अन्तरिक्ष	हृदय	इन्द्र
तृतीय सवन	द्यौ	मस्तिष्क	आदित्य तथा विश्वेदेव

उपर्युक्त तालिका में हमने तीनों सवनों का स्वरूप व सम्बन्ध संक्षेप में दिखा दिया। इसका सार यह है कि किसी उद्देश्य की पूर्णता में ये तीन प्रकार के परिश्रम करने पड़ते हैं। परिश्रम व निचोड़ की दृष्टि से तो यह एक ही हैं। परन्तु लोक शरीर तथा देवता की दृष्टि से उसके तीन विभाग कर

दिये हैं। जिस प्रकार दिल्ली से बम्बई पहुंचाने के लिये बीच २ में गाड़ी के इञ्जन बदलते जाते हैं। इसी प्रकार पृथिवी से द्युलोक तक पहुँचने तथा शरीर में उदर से मस्तिष्क तक पहुँचने में देवता बदलते जायेंगे और सवनों अर्थात् परिश्रम में भी कुछ २ विभिन्नता आती जायेगी। उदाहरण के तौर पर यहां हम अवस्था भेद की दृष्टि से सवनों का संक्षिप्त भाव दिखाते हैं। जब किसी उद्देश्य व आदर्श की प्राप्ति के लिये मनुष्य परिश्रम करना आरम्भ करता है या अपने को निचोड़ना प्रारम्भ करता है तो वह प्रातः सवन है। उस समय उसको अग्नि ही प्रेरणा करती हैं। मनुष्य में उद्देश्य की पूर्ति के लिये आग होती है। इसलिये मार्ग में आयी हुई विपत्तियों तथा कष्टों को वह सहता चला जाता है। परन्तु उन कष्टों को सहते हुए भी जो मनुष्य अपने उद्देश्य को छोड़ नहीं बैठता। रात दिन उसकी पूर्ति में लगा रहता है, तब वे कष्ट, कष्ट नहीं रहते। कालान्तर में जाकर मनुष्य को उद्देश्य में सफलता मिलती है, अनेक प्रकार के ऐश्वर्य मिलते हैं। वह इन्द्र बनता है। यह सवन अर्थात् परिश्रम का दूसरा स्वरूप है। इसके आगे तृतीय सवन तब माना है जब वह अपनी सिद्धि व सफलता से अन्य सब का परोपकार करता है। आदित्य के समान अन्धेरे का विनाश कर सर्वत्र प्रकाश फैलाता है और सबको अनुप्राणित करता है।

इस प्रकार ये तीन सवन हैं। इस मस्तिष्क के आवरणों

को विनष्ट करने के लिये सवनों के उपर्युक्त भाव को भी हम ले सकते हैं जिसमें कि परिश्रम के अवस्था की दृष्टि से तीन विभाग कर दिये हैं। दूसरा इसका भाव शरीर की दृष्टि से भी हो सकता है। जैसा कि प्रातः सवन का देवता अग्नि है। और इसका सम्बन्ध उदर तथा प्रजनन सम्बन्धी अवयवों से है। इसका तात्पर्य यह होगा कि हम पहले अपने उदर व प्रजनन सम्बन्धी दोषों को दूर करें, इन अवयवों को वश में करें। काम वासना प्रबल है तो कुछ नहीं हो सकता। उदर में कोई विकार है या रात दिन हम उदर पूर्ति के लिये ही मारे २ फिरते हैं, तो भी कुछ नहीं हो सकता। उदर विकार व पेट खराब होने पर ध्यान कैसे लगेगा? इस लिये हमारा पहला परिश्रम उदर व प्रजनन सम्बन्धी अवयवों के शोधन व वशीकरण का होना चाहिये। आगे माध्यन्दिन सवन में हृदय, मन, तथा छाती आदि लिये जा सकते हैं। और तृतीय सवन में मस्तिष्क और तत्सम्बन्धी अवयवों का ग्रहण किया जा सकता है। यह तो हमने तीनों सवनों का संक्षिप्त भाव दिखा दिया। परन्तु इस प्रकरण में यदि हम देखें तो यहां दो ही सवनों का वर्णन है। एक प्रातः सवन और दूसरा तृतीय सवन। यहां हो भी दो ही सवन सकते हैं। क्योंकि यह प्रकरण ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्ध रखता है। ज्ञानेन्द्रियों के दो ही स्थान हैं, या दो ही गति हैं। एक तो बाहिर की ओर और दूसरी अन्दर की ओर। इन

इन्द्रियों को बाहिर से हटाकर अन्दर की ओर अपने अन्तिम आश्रय स्थान में पहुँचाना है । इस लिये इनको बाहिर से हटाना वेद के शब्दों में वलासुर से एक लड़ाई बाहिर करनी है और दूसरी अन्दर करनी है। एक लड़ाई पृथ्वी पर करनी। और दूसरी अन्दर मस्तिष्क (द्युलोक) में करनी है। इस लिये वलासुर के हनन में दो ही सवनों का वर्णन किया गया है। प्रातः सवन द्वारा इस वलरूपी आवरण व वासना को शिथिल करना है। इस वलरूपी आवरण को शिथिल करने में ब्राह्मणग्रन्थ ने क्या साधन बताये हैं यह हम स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

--:o:--

अष्टम अध्याय

आवरण को शिथिल करना

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रातः सवन अर्थात् प्रारम्भिक परिश्रम बलरूपी आवरण को शिथिल करने का होना चाहिये। इस दृष्टि से ऐतरेय ब्राह्मण में प्रातः सवन में नभाक ऋषि के तीन मन्त्रों द्वारा बल को शिथिल करने का विधान किया गया है।

नभाक एक वैदिक ऋषि है। इसका विस्तृत विवेचन तो 'वैदिक ऋषि' पुस्तक में किया जायेगा। हम यह समझते हैं कि जितने वेदों के ऋषि हैं, वे ऐतिहासिक मानवीय व्यक्ति नहीं हैं। ये तो मंत्रों को देखने की दृष्टियां हैं, ऐनक हैं, जिनको धारण कर मन्त्रों को देखना चाहिये। ऐतरेय ब्राह्मण में भी नभाक का धातु प्रयोग कर यह सिद्ध कर दिया है कि यह नभाक कोई मानव व्यक्ति नहीं है।

'नभाकेन वलमनभयन् अश्रथयन्'

अर्थात् नभाक से वल को शिथिल किया गया। इससे यह स्पष्ट है कि यहां नभ धातु का प्रयोग शैथिल्य अर्थ में हुआ है। इस प्रकार नभाक (नभ+अक) वल रूपी वासना को शिथिल करने वाला है, ऐसा भाव लिया जा सकता है।

ऋग्वेद में ८ म० ३६ सू० से ४१ सूक्त तक नभाक ऋषि के सूक्त हैं। इन सूक्तों के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में 'नभन्तामन्यके समे' (नभ+अक) अर्थात् अन्य सब शत्रु शिथिल हो जायें, विनष्ट हो जायें—ऐसा प्रयोग आना है। यह नभ धातु का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि इन मन्त्रों में जो नभाक ऋषि है यह किसी क्रिया व गुण विशेष को बताने वाला यौगिक पद है, मानव व्यक्ति नहीं है। यह एक दृष्टि है जिसके द्वारा मन्त्रों में शत्रुओं के शैथिल्य के साधनों को प्रमुख रूप से ढूंढना है। और फिर प्रकरण के अनुसार मस्तिष्क व द्युलोक सम्बन्धी वलादि आवरणों के विनाश के साधनों को यहां देखना है। अब हम इस नभाक ऋषि के स्वरूप पर विस्तार से विचार करते हैं। इस वलासुर के प्रकरण में नभाक क्या होसकता है यह देखने के लिये हमें निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिये।

एक तो वलासुर आध्यात्मिक जगत का असुर है,

जिसने कि मस्तिष्क में विद्यमान ऐन्द्रियिक दिव्य शक्तियों को घेरा हुआ है। इस लिये मस्तिष्क में वल को शिथिल करने वाला नभाक भी शरीर व मस्तिष्क का ही कोई तत्व होना चाहिये। दूसरे नभाक ऋषि के जिन तीन मन्त्रों से वल को शिथिल करने का विधान है वे मन्त्र नभाक का क्या स्वरूप बताते हैं, यह देखने का प्रयत्न करना चाहिये। और फिर ये तीन मन्त्र इन्द्र, अग्नि तथा वरुण देवता के मन्त्र हैं। इन नभाक मन्त्रों द्वारा इन देवताओं के कार्य व स्वरूप का स्पष्टी-करण होने पर नभाक का भी स्पष्टीकरण हो जायेगा। नभाक ऋषि के जिन मन्त्रों से वलासुर को शिथिल किया जाता है, वे तीन मन्त्र इन्द्र, अग्नि तथा वरुण देवता के हैं। इनमें सबसे प्रथम हम नभाक ऋषि के मन्त्रों द्वारा वरुण का स्वरूप देखते हैं।

वरुण

नभाक ऋषि वाले मन्त्रों में वरुण देवता का जो स्वरूप बताया गया है, वह आध्यात्मिक क्षेत्र के आधार पर मानव पिण्ड में मस्तुलुंग द्रव (Cerebro-Spinal Fluid) में रहने वाली वारुणी शक्ति है। वारुणी शक्ति सदा द्रव में रहती है और उसका नियन्त्रण करती है। इस दृष्टि से वरुण को 'अपांपति' जलों का स्वामी कहा जाता है। यह मस्तुलुंग द्रव शरीर में दो स्थानों पर रहता है। एक मस्तिष्क में और

दूसरा सुषुम्ना काण्ड अर्थात् रीड की हड्डी में। मस्तिष्क में यह वरुण चार द्रवकूपों (Four Ventricles) में रहता है। इन कूपों को वेद में 'अर्णव' समुद्र कहा गया है। और श.प.ब्र. ३।५।४।१ में ४ कूप या ४ उपरव नाम से कहा गया है। श.प. में आता है कि—

'तद् य इमे शीर्षंश्चत्वारः कूपा इमावह द्वाविमौ द्वौ'

अर्थात् सिर म जो ४ कूएँ हैं, उनमें दो ये हैं और दो ये हैं। इस प्रकार सिर के ये ४ कूप Four Ventricles के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वेदों में इन्हें समुद्र (अर्णव) नाम से सम्बोधित किया गया है। नभाक ऋषि के एक मन्त्र में सिर के समुद्र का इस प्रकार वर्णन किया है।

'सप्त बुध्नमर्णव जिह्मवारम्' ऋ० ८। ४०। ५

अर्थात् सिर में विद्यमान इन्द्रियों के सात क्षेत्र या आदिमूल (बुध्नम्) इस समुद्र के चारों ओर हैं। और इसकी दीवार (वार-Wall) टेढ़ीमेढ़ी है। इसका भाव यह है कि हमारी इन्द्रियों के जो अन्तःकेन्द्र (Brain Centres) हैं, वे इन समुद्रों (Ventricles) के चारों ओर विद्यमान हैं। इन समुद्रों के अन्दर जो द्रव भाग है, उसमें वरुण रहता है। इस वरुण के सम्बन्ध में ऋ० ८। ४१। २ मन्त्र में यह कहा है कि—

'यः सिन्धूनामुपोदये सप्त स्वसा स मध्यमः'

अर्थात् (सिन्धूनां) नाड़ियों के (उपोदये) उद्गम के समीप में यह वरुण विद्यमान है और (सप्तस्वसा) सात इन्द्रिय रूपी बहिनों वाला है। (स मध्यमः) और वह वरुण इन सातों के मध्य में रहता है। इससे यह पता चलता है कि मस्तिष्क के द्रव भाग का इन सातों इन्द्रियों से विशेष सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध क्या है यह हम आगे दिखायेंगे। ये इन्द्रियें सप्तसिन्धु, सप्तस्वसा, सप्तेन्द्रिय आदि कई नामों से कही जा सकती हैं। इन नभाक सूक्तों में इन सप्तेन्द्रियों को काव्य भी कहा गया प्रतीत होता है। मन्त्र में आता है कि—

स कविः काव्या पुरुरूपं द्यौरिव पुष्यति' ऋ० ८।४१।५

अर्थात् वह क्रान्तदर्शी वरुण मस्तिष्क में विद्यमान काव्यों को नाना रूपों में परिपुष्ट करता रहता है। जिस प्रकार द्युलोक को पुष्ट किया जाता है। मन्त्र में जो द्युलोक की तरह (द्यौरिव) अनेक रूप देने का वर्णन किया है, इससे यह पता चलता है कि यहां द्युलोक के समान मस्तिष्क का ग्रहण करना है। इस मस्तिष्क में काव्यों को अनेक रूप देने हैं। वे अनेक रूपों वाली इन्द्रियां ही हैं। काव्य का अर्थ कविकर्म कर लेवें, जैसा कि सायणाचार्य ने किया है तो भी कवि कर्म इन्हीं इन्द्रियों का ही कर्म है। ये इन्द्रियां ज्यों २ दिव्य बनती जाती हैं, त्यों २ क्रान्तदर्शी बनती जाती हैं। अगले एक मन्त्र में इन काव्यों की सिर में स्थिति इस प्रकार बतायी है।

यस्मिन् विश्वानि काव्या चक्रे नाभिरिव श्रिताः ऋ० ८।४१।६

अर्थात् जिस वरुण में सम्पूर्ण काव्य उस तरह आश्रित हैं जिस प्रकार चक्र की नाभि में आरे लगे होते हैं।

यहां काव्य का भाव इन्द्रियां तथा उनके अन्तःकेन्द्र (Brain Centres) भी लिये जा सकते हैं।

यह सम्पूर्ण सूक्त सिर के अन्दर विद्यमान वरुण का वर्णन कर रहा है। यह वारुण द्रव सम्पूर्ण शरीर में पोषण का कार्य करता है। इसमें इन्द्रियों आदि का पोषण तो है ही। परन्तु इसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान का भंडार भी है। मैडिकल साइंस यह तो बता सकती है कि इसका शरीर की दृष्टि से क्या कार्य है ? परन्तु ज्ञान विज्ञान की दृष्टि से ये आन्तरिक अंग क्या करते हैं ? इस सम्बन्ध में वह ज्यादह दूर तक नहीं जा सकती। इस सम्बन्ध में वेदादि शास्त्र यह कहते हैं कि इन आन्तरिक अवयवों का स्थूल कार्य तो है ही। परन्तु साथ में सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान विज्ञान का भी कार्य इनसे होता है। ये चाहे अपने स्थूल रूप से ज्ञान विज्ञान का कार्य न करते हों परन्तु इनमें सूक्ष्म व सूक्ष्मतर शक्तियां माननी पड़ेंगी, जो कि अद्भुत कार्य करती हैं। इस लिये मैडिकल साइन्स से स्थूल दृष्टि के लिये ये सूक्ष्म बातें असम्भव हों परन्तु भगवान् का ज्ञान वेद इन सूक्ष्म बातों का वर्णन करता है और हमारे ऋषियों ने अध्यात्म शक्ति को जागृत कर इन सूक्ष्म बातों का प्रत्यक्ष किया था।

इन्द्रियों को 'काव्य' इस लिये कह सकते हैं कि इनमें क्रान्त कर जाने की शक्ति है। इनकी शक्ति को खूब बढ़ाया जाये तो ये किसी भी वस्तु के ऊपरी आवरण को भेदन कर तह में पहुंच जायेंगी और वहां का रहस्य पता लगा लेंगी। इस लिये ये क्रान्त करके देखने वाली होने के कारण काव्य हैं।

यह वरुण का समुद्र कैसा है? इस सम्बन्ध में मन्त्र में कहा कि—

स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति नि यदासु यजुर्दधे।

ऋ० ८। ४१। ८

(स समुद्रः अपीच्यः) वह समुद्र अन्तर्हित हुआ २ ऊपर को गति करने वाला (अपिहितमञ्चति) शीघ्र ही द्युलोक के समान मस्तिष्क की ओर आरोहण करता है (यदा) जब कि (आसु) इन नाड़ियों में (यजुः[1] निदधे) बाह्य विषय का सम्पर्क होता है।

एक मन्त्र में वरुण के लिये ऐसा कहा गया है कि—

'यः स्कम्भेन विरोदसी' ऋ० ८। ४१। १०

अर्थात् जो स्कम्भ (रॉड़) द्वारा द्यावापृथिवी (मस्तिष्क, शरीर) को थामे हुए है।

---

१. 'यजु' का मुख्यार्थ संगति व सम्पर्क (यज देवपूजा संगति करण दानेषु) है। यजुर्वेद का स्थान अन्तरिक्ष भी द्यावापृथिवी के मेल का स्थान है।

इस प्रकार हमने नाभाक मन्त्रों द्वारा संक्षेप में वरुण का स्वरूप देखा। मस्तिष्क व रीढ़ सम्बन्धी वरुण के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले और भी मन्त्र दिखाये जा सकते हैं। परन्तु इस पुस्तक में और विस्तार करना अभीष्ट न होने से हम यहीं समाप्त करते हैं। इस कथानक में वलासुर के शिथिल करने में वरुण सम्बन्धी जो मन्त्र दिया है, अब हम उसकी व्याख्या करते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

यः ककुभो निधारयः पृथिव्यामधि दर्शतः।
स माता पूर्व्यं पदं तद्वरुणस्य सप्त्यं स हि गोपा इवेर्यो नभन्तामन्यके समे ॥ ऋ० ८। ४१। ४

(यः) जो वरुण (ककुभः निधारयः) मस्तिष्करूपी शिखरों को धारण करता है, अथवा (पृथिव्यामधि) पृथिवी (शरीर) पर अधिष्ठित होकर (ककुभः निधारयः) सब दिशाओं को धारण करने वाला है। अथवा जो वरुण मस्तिष्क रूपी शिखरों को धारण करता है। और (पृथिव्यामधि) शरीर के बाह्य भाग में आकर ही (दर्शतः) दिखाई देता है। (सः) वह वरुण (पूर्व्यं पदं माता) सर्व प्रथम पद का निर्माता है (तत) वह प्रथम पद व गति (सप्त्यं) सप्तेन्द्रियों सम्बन्धी है। (सः हि) वह वरुण निश्चय से (गोपा इव इर्यः) गोपाल के समान इन्द्रिय रूपी गौओं का स्वामी है (नभन्तामन्यके समे) अन्य सब विघातक शत्रु विनष्ट हो जायं।

यहां पर वरुण को इन्द्रियरूपी गौओं का गोपाल बताया है। मैडीकल साइन्स भी इस वारुण द्रव (Cerebro spinal fluid) का पोषणरूपी कार्य तो स्वीकार करती ही है। इस मन्त्र में 'ककुभ' शब्द के दो तीन अर्थ किये जा सकते हैं। इन अर्थों के आधार पर वरुण के भी दो तीन प्रकार के गुण व कार्य पता चलते हैं। एक तो 'ककुभ' का अर्थ शिखर है। (ककुभः पर्वतानाम् ऋ० ४। १९। ४) अर्थात जिस प्रकार पर्वतों के शिखर होते हैं, उसी प्रकार हमारे शरीर में मेरुदण्ड पर्वत है और सिर पर्वत शिखर हैं, ये त्रिविष्टप हैं। इन तीन शिखरों को यह वारुण द्रव ही परिपोषण द्वारा थामे हुए है। जैसा कि हम पूर्व मन्त्र में देख चुके हैं कि यह वारुण समुद्र एक ढका हुआ समुद्र है। इस लिये यह दिखाई नहीं पड़ता। परन्तु पृथ्वी अर्थात् शरीर के अधो भाग या बाह्य भाग में आकर जब यह मल आदि को बाहिर निकालता है, तब पता चलता है कि यह वरुण का कार्य है। इन्द्र के द्वारा जब कोई आज्ञा शरीर के अवयवों को दी जाती है तो यह वारुण द्रव ही माध्यम का काम करता है। शरीर की सब दिशाओं में यही आज्ञा पहुंचाने का साधन है। और सब दिशाओं में जल भरा हुआ है, इस लिये सर्वत्र इसकी स्थिति है। परन्तु हमें यहां मुख्यतया द्युलोक (मस्तिष्क) स्थित वरुण का ही स्वरूप देखना है। उसी से ही हमारा प्रयोजन है। इस लिये 'सप्त्यं पूर्व्यं पदम्' का भाव यह होगा कि

मस्तिष्क से सातों इन्द्रियों की आज्ञा वाहक नाड़ियों को चालू करना (Generating efferent impulses from the brain)। 'पदम्' (पद गतौ) का अर्थ है गति देना, उत्पन्न करना इत्यादि। इस लिये यह सम्भव है कि नस नाड़ियों द्वारा जो आज्ञा आदि दूर ले जायी जाती है, उसका प्रारम्भ द्रव में हलचल से होता हो।

इस प्रकार हमने वलासुर के शिथिल करने में प्रयुक्त इस मन्त्र में निम्न बातें देखीं। एक यह कि जिस प्रकार गोपालक गौओं का पालन पोषण करता है, उसी प्रकार यह वरुण इन्द्रियों का पोषण करने वाला है। दूसरी यह कि नाड़ियों में जो आज्ञा आदि आती जाती है उसकी प्रथम गति या प्रथम प्रहार वरुण द्रव से होता है। इसी प्रकार और भी बातें हैं जो कि मन्त्र में हमने दिखाई हैं।

इन्द्र और अग्नि—

वलासुर के शिथिल करने में नभाक ऋषि का द्वितीय मन्त्र इन्द्राग्नी देवता का है। ये इन्द्राग्नी देवता क्या हैं? यह हम संक्षेप में स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। मन्त्र इस प्रकार है

या नु श्वेतावद्यो दिव उच्चरात उपद्यु भिः। इन्द्राग्न्योरनुव्रत-मुहाना यन्ति सिन्धवो यान्त्सीं बन्धादमुञ्चतां नभन्तामन्यके समे। ऋ. ८।४०।८

(या) जो इन्द्र और अग्नि (श्वेतौ) श्वेत रङ्ग के हैं। और जो (द्युभिः) दीप्तियों द्वारा (अवः) नीचे से (उत् चरातः) ऊपर को गति करते हैं और (दिवः उप) द्युलोक के पास से (अवः चरातः) नीचे को गति करते हैं। (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि के (अनुव्रतं उहानाः) अनुकूल व्रत को धारण किये हुए (सिन्धवः) सिन्धुएँ अर्थात् नाड़ियें (यन्ति) कार्य कर रही हैं (यान्) जिन नाड़ियों को (सीं बन्धात्) सीमा के बन्धन से वे इन्द्र और अग्नि (अमुञ्चताम्) छुड़ाते हैं। अन्य सब शत्रु विनष्ट हो जायें।

अब हम इस मन्त्र का मानव पिण्ड में स्पष्टीकरण करते हैं। शरीर में द्युलोक मस्तिष्क है और पृथिवी शरीर का अधो भाग और बाह्य भाग है। सिन्धु नाड़ियां हैं। यहां पर इन्द्र और अग्नि शरीर में दो शक्तियां हैं जो कि सिन्धु अर्थात् नाड़ियों द्वारा कर्म करती हैं। इन्द्र और अग्नि दो हैं। इस लिये ये नाड़ियां भी दो प्रकार की हैं। इनको हम स्थूल दृष्टि से चेतनावह (Sensory Nerves) आज्ञावह (Motor Nerves) कह सकते हैं। ये दोनों नाड़ियां सफेद हैं। इस लिये इन्हें मन्त्र में 'श्वेतौ' कहा है। चेतना नाड़ी शरीर में चहु ओर से सिर रूपी द्युलोक की ओर आरोहण करती है। और आज्ञावह नाड़ी सिर से आज्ञा लेकर शरीर में चारों ओर पहुंचती है। द्युलोक अर्थात् मस्तिष्क का अधिपति इन्द्र है। और पृथिवी अर्थात् शरीर

के अधोभाग या बाह्य भाग का अधिपति अग्नि है। या यूं कह सकते हैं कि चेतनावह नाड़ियों के जो संज्ञाग्राहक सिरे (End organs) हैं वहां अग्नि विद्यमान है। इसी अग्नि की शक्ति से ये सिरे संज्ञा को ग्रहण करते हैं यह कहा जा सकता है। अग्नि इन संज्ञा वाहक नाड़ियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करके मस्तिष्क की ओर भेजता है और मस्तिष्क से इन्द्र तदनुसार शरीर को आज्ञा देता है। इस प्रकार अग्नि और इन्द्र इन दोनों प्रकार की नाड़ियों से कार्य कर रहे हैं। यह इनका व्रत है। इसी व्रत को नाड़ियों ने भी वहन किया हुआ है। ये दोनों इन्द्र और अग्नि इन नाड़ियों की सीमा पर बैठे हुए (End organs) सीमा के बन्धन को छुड़ाते रहते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र से हमने इन्द्र और अग्नि का संक्षिप्त स्वरूप दिखाया। अब हम नभाक ऋषि के इन्द्राग्नी वाले उस मन्त्र पर विचार करते हैं, जो वलासुर के शिथिल करने में प्रयुक्त हुआ है। मन्त्र इस प्रकार है।

पूर्वीष्ट इन्द्र उपमातयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः सूनो हिन्वस्य हरिवः। वस्वो वीरस्यापृचो या नु साधन्त नो धियो नभन्तामन्यके समे। ऋ० ८।४०।९

(हिन्वस्य सूनो) गति या वृद्धि के पुत्र (हरिवः) नाड़ी रूप हरिवाले तथा (वीरस्य वस्वः आपृचः) वीरता युक्त वसु का सम्पर्क करने वाले या देने वाले हे इन्द्र! (ते उपमा-

तयः) तेरा (उप+मातिः) विषय सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान (पूर्वीः) सनातन रूप से होता आ रहा है (उत) और (प्रशस्तयः) तेरी प्रशस्तियां अर्थात् आज्ञाएँ भी (पूर्वीः) सदा होती रहती हैं। (या) जो उपमाति या प्रशस्तियाँ हैं वे (नः धियः साधन्त) हमारी बुद्धियों को साधती रहती हैं।

उपमाति का भाव है (उप विषयसम्पर्के मातिः निर्माणम्) कि इंद्रियों के विषय के साथ सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान। यह उपमाति ज्ञान संज्ञावाहक नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क में पहुंच जाता है और वहां इसे रूप दिया जाता है। अनुभूति को ग्रहण कर उसे ज्ञान रूप में परिणत करना इन्द्र का काम है। उपमाति रूप अनुभूति को ग्रहण कर तदनुसार इन्द्र की प्रशस्तियां अर्थात् आज्ञाएँ आज्ञावाहक नाड़ियों द्वारा सब अंगों में पहुंचती रहती हैं। जब तक मनुष्य जीता रहता है तब तक ये दोनों क्रियाएँ निरन्तर होती रहती हैं। इस लिये इन्हें मन्त्र में 'पूर्वीः' सनातन कहा है।

अब विचारणीय यह है कि इस मन्त्र को जो वलासुर के शिथिल करने में लगाया हैं, वह किस दृष्टि से लगाया है? अब हम इस बात के स्पष्टी करण के लिये इन्द्र के विशेषणों को देखते हैं। इन्द्र का एक विशेषण 'हिन्वस्य सूनो' आता है। हिन्व शब्द 'हि गतिवृद्धयोः' धातु से बनता है। अर्थात् इन्द्र गति और वृद्धि का पुत्र है। पुत्र कहने का भाव यह है

कि इन्द्र का इस स्थल पर अत्यन्त गति शीलता तथा वृद्धि का गुण देखना है। इन्द्रियों में ये दोनों गुण होते हैं। इन्द्रियां विषयों के ग्रहण व ज्ञान के लिये जाती हैं और इन में अपनी योग्यता का बढ़ते जाना भी होता है। दूर से दूर पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये तीव्र गति से जाना और दूर से दूर जाना ये दोनों बातें यहां अभीष्ट हैं। और साधना के द्वारा ये गुण इन में बढ़ाये जा सकते हैं। इन्द्र की शक्ति रूपिणी इन्द्रियां बाह्य विषयों की तरफ तो जाती ही हैं परन्तु अन्दर की तरफ जाने पर इन्हें दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। वीरता युक्त ऐश्वर्य इन्हें मिलता है। इस लिये मन्त्र में इन्द्र के लिये कहा है 'वस्वो वीरस्यापृचः' अर्थात् वह इन्द्र वीर वसु को प्राप्त करना है। साधारण मनुष्यों में इन इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान प्राप्ति या विषय ग्रहण होता है, वह बहुत साधारण होता है। 'वीर वसु' दिव्य ज्ञान ही है। मन्त्र में कहा गया है कि ऐसे 'वीर वसु' के द्वारा मनुष्य अपनी बुद्धियों को उत्कृष्ट व समुन्नत करते रहतेहैं।

नभाक ऋषि का तीसरा मन्त्र जिससे कि वलासुर को शिथिल किया जाता है, वह इस प्रकार हैं—

ता हि मध्यम्भराणामिन्द्राग्नी अधिक्षितः।
ता उ कवित्वना कवी पृच्छ्यमाना सखीयते संधी-तमश्नुतं नरा नभन्तामन्यके समे॥ ऋ० ८।४०।३

(ता इन्द्राग्नी) वे दोनों इन्द्र और अग्नि (भराणां मध्यं) संग्रामों के मध्य में (अधिक्षितः) निवास करते हैं। (ता उ) वे दोनों (कवित्वना) कवित्व शक्ति के कारण (कवी) कवी कहलाते हैं। (पृच्छ्यमाना) पूछे जाते हुए तुम (नरा) हे नायको। (सखीयते) जो तुम्हें सखा बनाना चाहता है, उसके (धीतं समश्नुतम्) कर्म में तुम व्याप्त हो जाओ।

बलासुर को शिथिल करने के लिये नभाक ऋषि सम्बन्धी यह तीसरा मन्त्र है। मन्त्र के प्रथम भाग में यह कहा गया है कि ये इन्द्र और अग्नि संग्रामों के मध्य में रहते हैं। यहां पर संग्राम के लिये 'भर' शब्द आया है। निरुक्त में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दे रक्खी हैं कि 'भरते वा ह्रियते वा' अर्थात् कुछ तो भरण (Assimilation) किया जाता है और कुछ हरण (Excretion) किया जाता है। धारण करने व हटाने में सदा संग्राम होता है। इन्द्रियों का बाह्य जगत् से सदा सम्पर्क रहता है। बहुत सी खराब बातें भी सदा सम्पर्क में आती रहती हैं। इन खराब तथा अनिष्ट कर प्रभावों को हटाने में सदा संग्राम मचा रहता है। यह संग्राम आन्तरिक संग्राम है। जिन मनुष्यों के जीवन में कोई संग्राम नहीं है, साधारण आदमी जिन पापों को पाप नहीं समझता, उन्हें हटाने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करता। उसके अन्दर एक प्रकार से इन्द्र और अग्नि का वास नहीं है। वैसे इन्द्र

और अग्नि सम्बन्धी शारीरिक क्रियाएँ तो होती रहती हैं, परन्तु इन्द्र और अग्नि शारीरिक क्रियाओं से कुछ भिन्न भाव भी रखते हैं। इनका इन्द्रत्व और अग्नित्व तभी सार्थक है जब कि वे साधारण अवस्था से उठकर दिव्यता में प्रवेश करते हैं। आगे इन इन्द्र और अग्नि के सम्बन्ध में कहा कि 'कवित्वना कवी' अर्थात् कवित्व शक्ति के कारण वे कवी कहलाते हैं। इस उपर्युक्त कथन को समझने के लिये हमें 'कवित्व' शब्द पर विचार करना चाहिये। आजकल कवि शब्द जिन अर्थों में और जिनके लिये प्रयुक्त होता है वह कवि का प्रयोग वेद के लिये अत्यन्त सीमित है। वेदों में कवि शब्द का प्रयोग 'क्रान्त कर जाना' इस अर्थ में होता है। क्रान्त कर जाना, क्रान्त करके देख लेना, ओट के पीछे ओझल वस्तु तथा चर्मचक्षुओं की सीमा से परे दूर से दूर वस्तुओं को देख लेना यह सब कवि का रूप है। दिव्य शक्ति सम्पन्न योगी महर्षियों के लिये दूरस्थ परोक्ष वस्तुओं के दर्शन में प्राकृतिक वस्तुओं तथा स्थान आदि का व्यवधान नहीं होता। वे दूर से दूर तथा ओझल वस्तुओं को भी प्रत्यक्ष की तरह देख लेते हैं। क्योंकि उनमें कवित्व शक्ति अर्थात् क्रान्त करके देखने की शक्ति होती है। सूर्य आदि की किरणें भी दीवार को पार कर मकान के अन्दर ऊष्मा आदि द्वारा अपना कार्य करती हैं। वृक्ष आदि की छाल सूर्य किरणों को अन्दर प्रवेश करने में रोक नहीं सकती। इस लिये ये प्राकृतिक शक्तितां व ज्योतियां भी वेद के शब्दों में कवि हैं।

क्योंकि इनमें भी क्रान्त कर जाने की शक्ति है। मनुष्य में जो क्रान्त करने की शक्ति आती है, वह इन्हीं इन्द्र और अग्नि के कारण हैं। ये दोनों शक्तियां जब बहुत ही उत्कृष्ट हो जाती हैं तब ये किसी भी प्रकार के रोक व आवरण को पार कर जाती हैं।

आगे इन्हें मन्त्र में 'पृच्छ्यमाना' तथा 'सखीयते धीतं समश्नुतम्' ऐसा कहा है। दिव्य शक्तियों को चाहने वाला जो मनुष्य इन्हें पूछता है। प्रत्येक कर्म इन्हीं से पूछ कर करता है। आन्तरिक वाणी को सुनने का प्रयत्न करता है, और फिर इन्हें अपना सखा बनाता है तो ये उसका पथप्रदर्शन करते हैं। और उसके सब कर्मों को अपने आप करने लगते हैं। ऐसा मनुष्य बाह्य परिस्थितियों या प्राकृतिक तत्वों से प्रभावित होकर कार्य नहीं करता अपितु इनके आन्तरिक निर्देशों से प्रेरित होकर कार्य करता है। इस प्रकार वरुण, इन्द्र और अग्नि देवताओं वाले उपर्युक्त तीन मन्त्रों का वलासुर के शिथिल करने में प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार यदि हम मन्त्रों के अर्थों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो मन्त्रों से ही हमें यह स्पष्ट हो जायेगा कि इन्द्रियों पर पड़े वल रूपी आवरण के विनाश का उपाय मन्त्रों में क्या बताया गया है। परन्तु ऐ. ब्रा. के अपने शब्दों में क्या कह रक्खा है ? यह हम देखते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में

इन मन्त्रों को भिन्न २ श्रेणी में रक्खा गया है। इस श्रेणी विभाग से भी यह पता चलता है कि इन मन्त्रों से क्या अभिप्रेत है? वह श्रेणी विभाग इस प्रकार है।

१ म मन्त्र	वरुण देवता	मैत्रावरुण
२ य मन्त्र	इन्द्राग्नी	ब्राह्मणाच्छंसी
३ य मन्त्र	इन्द्राग्नी	अच्छावाक

इस प्रकार ये तीन श्रेणियां हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ में विस्तार से इनका वर्णन किया गया है। और आलंकारिक भाषा में वह सारी प्रक्रिया आदि भी बताया है। परन्तु हम यहां विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही इसका आशय क्या है? यह देखते हैं।

ऐ०ब्रा. ३० अ० १ ख. २७ क०(६ । २७) में मैत्राव-रुण का यह कार्य बताया गया है कि—

तं होता रेतो भूतं सिक्त्वा मैत्रावरुणाय संप्रयच्छ त्येतस्य त्वं प्राणान्कल्पयेति

अर्थात् मस्तिष्क को यजमान कल्पना करके उसमें दिव्य शक्तियों का आविर्भाव करना है। एक प्रकार से उसकी नई उत्पत्ति करनी है। ब्राह्मण ग्रन्थ की भाषा में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि दिव्यत्व की उत्पत्ति में मस्तिष्क को वीर्य रूप (रेतोभूत) में कल्पना करके होता उसका सिंचन करता है और मैत्रावरुण को देता है कि अब तू

इसके प्राणों को समर्थ व शक्ति शाली बना। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ के कथनानुसार मैत्रावरुण का काम प्राणों को शक्ति शाली बनाना है। वरुण देवता का वह मन्त्र जिससे बलासुर को शिथिल करना है, ब्रह्मण ग्रन्थ ने मैत्रा वरुण की कोटि में रक्खा है। इस लिये हमें उस मन्त्र का भाव सिर आदि के प्राणों को शक्ति शाली बनाने में ही लेना चाहिये। और मन्त्र भी ऐसा ही निर्देश करता है। इन्द्रियों के पोषण में मित्र और वरुण दोनों का कार्य होता है। मित्र निर्माण करता है और वरुण निर्माण के विघातक शत्रुओं को विनष्ट कर बाहिर निकाल देता है। इस लिये प्रथम कार्य यह है कि ऐन्द्रियिक शक्तियों में जहां भी कमी हो उसे दूर कर उनका पोषण करना।

जब मैत्रावरुण सम्बन्धी साधनों द्वारा मस्तिष्क में विद्यमान प्राण तत्व समर्थ व शक्ति शाली बन जायें, तब मैत्रा वरुण अगली उत्पत्ति के लिये उसको ब्राह्मणाच्छंसी को देता है—

ब्राह्मणाच्छंसी—

तस्य मैत्रावरुणः प्राणान्कल्पयित्वा ब्राह्मणाच्छंसिने संप्रयच्छत्येतत्वं प्रजनयेति ऐ० ६ २८

अर्थात् मैत्रा वरुण मस्तिष्क के प्राणों को समर्थ व शक्ति शाली बनाकर ब्राह्मणाच्छंसी को देता है, और कहता है कि अब तू इसकी उत्पत्ति कर।

ब्राह्मणाच्छंसी के लिये ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है कि वह देवयोनि सुकीर्ति के द्वारा उत्पत्ति करता है। इससे यह स्पष्ट है कि यहां दिव्यत्व की उत्पत्ति करनी है। दिव्यत्व की उत्पत्ति व वृद्धि के ब्राह्मण ग्रन्थ ने क्या साधन बताये हैं ? यह हम फिर कभी देखेंगे। परन्तु मन्त्र में इन्द्र को 'हिन्वस्य सूनो' अर्थात् गति, वृद्धि तथा प्रेरणा का पुत्र कहने का भाव यह है कि मनुष्य में ये गुण होने चाहियें। मन को सुस्त व खाली न होने देवे। और बुद्धि में सामान्य दुनियादारी के तथा कमजोर व डरपोक पने के विचारों को आश्रय न देवे। अपितु मन्त्र के कथनानुसार (वस्वो वीरस्यापृचः यानु साधन्त नोधियः) वीरता युक्त विचारों व भावों को ही बुद्धि में स्थान देवे। ऐसा करने से वलासुर के हीन विचारों में शिथिलता आयेगी, और वे समय पाकर विनष्ट हो जायेंगे। ये वीर वसु हमारी बुद्धियों में बने रहें इसका उपाय आगे यह बताया कि

अच्छावाक—

त ब्राह्मणाच्छंसी जनयित्वाऽच्छावाकाय संप्रयच्छत्येतस्य त्व प्रतिष्ठां कल्पयेति ऐ. ब्रा. ३०।३।२९ (६। २९)

अर्थात् ब्राह्मणाच्छंसी मस्तिष्क में दिव्यता व वीर भाव, की उत्पत्ति करके अच्छावाक को देता है। और यह

कहता है कि तू इनकी प्रतिष्ठा कर अर्थात् अपने २ स्थानों में इनको स्थिर कर।

दिव्यता की उत्पत्ति होने पर उसको अपने में स्थिर रख सकना भी बहुत कठिन व आयास साध्य काम है। उसको अपने अन्दर स्थायी बनाना अच्छावाक का काम है।

इस प्रकार ये तीन प्रकार के साधन हुए जिनको हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं।

१. सिर आदि के प्राणों का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त कर उन्हें शक्ति शाली व पुष्ट करना।
२. बुद्धि में दिव्य व वीर भावों को पैदा करना।
३. दिव्य व वीर भावों को स्थायी बनाना।

इन साधनों को निरन्तर करते रहने से मनुष्य में वल वा वासना शिथिल होती है। मन्त्रों में शक्ति मानने वालों का तो यह कहना है कि भावना व ध्यान के साथ २ इन मन्त्रों का जप भी करते रहना चाहिये। इससे सफलता मिलती है।

नभाक ऋषि--

अब विचारणीय यह है कि नभाक ऋषि का स्वरूप क्या है? जैसा कि हम पहले दिखा चुके हैं कि 'नभ' धातु से नभाक बनाया है। जिसका भाव यह है कि शत्रुओं व विघा-तक तत्वों को शिथिल करना। इससे यह पता चलता है कि

यह विरोधी तत्वों को हटाने वाला है। इस सम्बन्ध में हम मन्त्र के द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं।

प्र ब्रह्माणि नभाकवदिन्द्राग्नीभ्यामिरज्यत। ऋ० ८।४०।५

अर्थात् (ब्रह्माणि) स्तोत्रों द्वारा इन्द्र और अग्नि की इस प्रकार सेवा व स्तुति करो, जिस प्रकार नभाक करता है।

इस मन्त्र का भाव शरीर की दृष्टि से यह है कि जब इन्द्र और अग्नि का परस्पर सम्बन्ध होता है। अर्थात् अग्नि संज्ञा वाहक नाड़ियों द्वारा कोई अनुभूति ऊपर भेजती है, और ऊपर से तदनुसार इन्द्र की जो आज्ञा आती है इसमें व्याघात नहीं होता। कारण यह है कि नभाक व्याघात करने वाले तत्वों को हटा देता है। विचारों में तो व्याघात हो जाता है। बुद्धि के कार्यों में व्याघात हो जाता है। मनुष्य भगवान् की स्तुति करता है परन्तु अन्य विचार आकर व्याघात डाल देते हैं। स्तुति बिना रोक टोक भगवान् के पास नहीं पहुँच पाती। परन्तु इन्द्र और अग्नि (Sensory, Motor Nerves) के कार्यों में व्याघात नहीं होता। क्योंकि नभाक व्याघातों को हटा देता है। इन्द्र और अग्नि के टेलीफून होने से पहले जो तनाव (Tone up) की अवस्था है, वह नभाक का कार्य है भगवान् की अर्चना व परिचर्या में हमें नभाक की तरह से होना चाहिये। इसी बात को बताने के लिये एक मन्त्र में आता है कि—

अभ्यर्च नभाकवदिन्द्राग्नी यजसा गिरा ऋ० ८।४०।४

अर्थात् इन्द्र और अग्नि की अर्चना यजन शील वाणी से उस प्रकार करनी चाहिये, जिस प्रकार नभाक करता है।

इसका भाव यह है कि जिस प्रकार आन्तरिक शरीर में इन्द्र और अग्नि की आज्ञाओं का आवागमन नभाक की कृपा से अवश्य होता है। नभाक किसी भी विघातक को आने नहीं देता, उसी प्रकार हमारी स्तुति भी ऐसी व्याघात से रहित होनी चाहिये, जिस से कि वह इन्द्र और अग्नि रूपी भगवान् के पास अवश्य पहुँचे। नभाक इन्द्र और अग्नि की अर्चना (अभि+अर्च) सामने होकर करता है। और 'गिरा' (गॄ निगरणे) उद्गिरण व निगरण करने वाली नाडियों के (यजसा) मिलाने से करता है। एक प्रकार से यह नभाक इन्द्र और अग्नि के मार्ग (Line) को साफ रखता है। इसका दूसरे शब्दों में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है कि जिस प्रकार राजा की सवारी निकलनी हो तो प्रहरी व सन्तरी आदि आगे २ जाकर मार्ग को साफ कर देते हैं। उसी प्रकार जब इन्द्र और अग्नि की सवारियां निकलती हैं, तो यह नभाक 'नभन्तामन्यके समे' मार्ग में आये सब शत्रु विनष्ट हो जायें, भाग जायें, इस प्रकार कहता हुआ इन्द्र और अग्नि के मार्ग को साफ कर देता है। इसी भाव को बताने वाला एक और मन्त्र है जो कि इस प्रकार है—

'नाभाकस्य प्रशस्तिभि र्यः सिन्धूनामुपोदये'

अर्थात् नभाक की प्रशस्तियों से प्रेरित होकर यह वरुण नाड़ियों के उदय या उद्गम के समीप आता है।

इस प्रकार नभाक सम्बन्धी मन्त्रों से नभाक का स्थूल स्वरूप मैडिकल साइन्स के आधार पर तनाव (Tone up) का भी प्रतीत होता है। अथवा यह हो सकता है कि तनाव की अवस्था नभाक का एक स्वरूप हो।

अब विचारणीय यह है कि वल अर्थात् आवरण के विनाश में इन सब का क्या उपयोग हुआ ? इस बात को हम एक उदाहरण से समझने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरण के रूप में आंख को लेते हैं। आंख का मस्तिष्क में जो दृष्टि केन्द्र है, उस स्थल का आवरण हमने दूर करना है। इसके लिये यह करना चाहिये कि मस्तिष्क में जो दृष्टि क्षेत्र (Vision area) है, वहां अपने को केन्द्रित करें। जब तक हमें उस क्षेत्र का पूर्ण ज्ञान नहीं होगा, तब तक उस निश्चित स्थल पर अपने को केन्द्रित कर सकना मुश्किल है। इसके लिये हमें यह उपाय करना चाहिये कि पहले हम निरन्तर किसी एक बिन्दु को देखें। इस अवस्था में इन्द्र और अग्नि का निरन्तर सम्बन्ध हो जायेगा। अग्नि उस बिन्दु को देखता है, और इन्द्र के पास भेजता है। नभाक ने तनाव (Tone up) की अवस्था बना रक्खी है। इस अवस्था में इन्द्र और अग्नि

का निरन्तर सम्बन्ध हो रहा है। यह अवस्था यहां तक बढ़नी चाहिये कि मनुष्य सारे का सारा इन दो के मध्य में केन्द्रित हो जाये। परन्तु बीच में बाधाएँ आती हैं जिससे कि मन इस तनाव से हटता है। क्योंकि मन चञ्चल है। कई प्रकार के विचार पैदा होते रहते हैं। इससे वह तनाव जाता रहता है। परन्तु यदि मनुष्य दृढ़ संकल्प है तो वह इस साधना से नहीं हटेगा बाधाएँ दूर हो जायेंगी। नभाक वैसा का वैसा तनाव बनाये रक्खेगा। इसमें यह आवश्यक नहीं कि निरन्तर उस बिन्दु को देखा ही जाय। कुछ काल तक देख कर आंखें बन्द की जा सकती हैं। परन्तु वह तनाव वैसा का वैसा ही रहना चाहिये। इन्द्र और अग्नि का परस्पर सम्बन्ध अक्षुण्ण बना रहना चाहिये। इससे होगा यह कि मनुष्य के मन और प्राण दोनों आंख के अन्तःकेन्द्र पर आकर प्रभाव डालेंगे। इससे वहां की प्राण शक्ति व परमाणुओं में गति उत्पन्न होगी और जो मैल उस पर पड़ी हुई है वह भस्म हो जायेगी।

इस प्रकार यह नभाक ऋषि व उसके तीनों मन्त्रों के सम्बन्ध में विचार हुआ। ये उपर्युक्त तीनों मन्त्र वलासुर के शिथिल करने में प्रातः सवन अर्थात् प्रारम्भिक प्रयत्न के समान हैं। मन्त्रों व कथानकों में निर्दिष्ट विधियों द्वारा आचरण करने से वल रूपी आवरण शिथिल होगा। आगे वलासुर को पूर्ण रूप से विनष्ट करने के लिये अगली प्रक्रिया

है जो कि तृतीय सवन में आती है। और जिसका सम्बन्ध प्रमुख रूप से मस्तिष्क से ही है। हमें यह याद रखना चाहिये कि बहुत सीं सूक्ष्म क्रियाएँ पीछे भी आयी हैं और आगे भी आयेंगी। परन्तु उनका ठीक २ विवेचन व जानकारी करने से ही पता चलतीं हैं। इस लिये जो मनुष्य इस मार्ग पर चलेगा, वह इनकी सूक्ष्मता व औचित्य को और ज्यादः ठीक रूप में जान सकेगा। अब विचारणीय यह है कि इस तृतीय सवन में मस्तिष्क में हमें वलासुर के हनन के लिये क्या करना होगा ? इस विषय के स्पष्टीकरण के लिये पहले हम दो तीन परिभाषाओं पर विचार करते हैं।

—:०:—

नवम अध्याय

आवरण का पूर्ण रूप सें विनाश करना

उपर हम मस्तिष्क के ऐन्द्रियिक केन्द्रों (Brain centres) पर पड़े आवरण को शिथिल करने के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थ में वर्णित साधनों पर विचार कर चुके। अब संक्षेप में उन साधनों पर विचार करते हैं जिनके द्वारा आवरण को पूर्णतया विनष्ट किया जा सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण में आता है कि

'त उ तृतीय सवने वज्रेण वालखिल्याभि र्वाचः कूटेनैक पदया वलं विरुज्य गा आप्नुवन्ति।

अर्थात तृतीय सवन में पहुंच कर बालखिल्याओं द्वारा एक स्थान पर निरन्तर प्रहार रूप में पड़ने वाले वाणी के वज्र से वलासुर को भग्न कर ऐन्द्रियिक दिव्य किरणें प्राप्त की जा सकती हैं।

जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि कथानक

में आयी वालखिल्य, सवन आदि परिभाषाओं का वेद व बाह्य कर्मकाण्ड में भी विनियोग करना है, और शरीर में भी किस अङ्ग व कार्य के लिये इनका प्रयोग हुआ है, यह दिखाना है। ब्राह्मण ग्रन्थ भी शरीरादि में इनका निर्देश करते जाते हैं। इस लिये अब हम दो तीन परिभाषाओं को पहले शरीर के अन्दर घटाने का प्रयत्न करते हैं।

जैसा कि हम पहले दिखा चुके हैं कि प्रातः सवन तथा तृतीय सवन इन दो सवनों में वल रूपी आवरण का विनाश करना है। प्रातः सवन अर्थात् प्रारम्भिक परिश्रम व प्रारम्भिक उत्पत्ति का सम्बन्ध शरीर में उदर आदि शरीर के अधोभाग तथा शरीर के ऊपरी व बाह्य भाग के साथ है। सर्व प्रथम हमें इनको स्वस्थ, सबल व निर्मल करना है। इसके अनन्तर तृतीय सवन में वल रूपी आवरण का पूर्णरूप से विनाश किया जाता है। तृतीय सवन का सम्बन्ध शरीर में मस्तिष्क से है। इस लिये तृतीय सवन में मस्तिष्क में ही मनुष्य की सब शक्ति लगनी है। वह किस प्रकार करना है यह हम अगली दो एक परिभाषाओं का स्पष्टीकरण करके दिखाते हैं। सबसे प्रथम हम वालखिल्यों पर विचार करते हैं।

वालखिल्य—

कथानक में आता है कि—वालखिल्याओं से निर्मित

एकपदा वाणी के वज्र से वलासुर पर प्रहार करना है। वेद की दृष्टि से तो ऋग्वेद में जो वालखिल्य सूक्त हैं उनको पाद, आधी ऋचा व पूर्ण ऋचा की दृष्टि से परस्पर मिलाना है। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों किया जाता है? इसका उत्तर यह है कि शरीर में भी इसी आधार पर वालखिल्य प्राणों को परस्पर मिलना है। यह सब एक आन्तरिक रहस्य है। अब हम सब से पहले शरीर के वालखिल्यों पर विचार करते हैं।

यहां पर वालखिल्य प्राण अपान और व्यान को कहा गया है। कुछ ऋषियों का नाम भी वालखिल्य है। वे वाल-खिल्य ऋषि कौन से हैं, उनका स्वरूप क्या है? इत्यादि बातें हम फिर कभी आपके सामने रक्खेंगे।

ऐतरेय ब्राह्मण ६।२८ तथा गो० उ० २।८ में यह उल्लेख आता है कि—

प्राणाः वै वालखिल्याः प्राणानेवास्य तत् कल्पयति ताः विहृताः शंसति विहृताः वा इमे प्राणाः प्राणेनापानोऽ-पानेन व्यानः ॥

अर्थात् वालखिल्य प्राणों का नाम है। इस यजमान के प्राणों को वह सामर्थ्यवान् व शक्तिशाली बनाता है। इसके लिये वह करता क्या है कि बालखिल्य ऋचाओं को परस्पर मिले हुए बोलता है। क्योंकि वालखिल्य नामक ये प्राण भी

परस्पर मिले हुए हैं। प्राण से अपान और अपान से व्यान मिला हुआ है।

यह उपर्युक्त प्रकरण ऐतरेय ब्राह्मण के बलासुर सम्बन्धी कथानक में आता है। यहां पर प्राण अपान और व्यान इन तीनों को वालखिल्य कहा गया है। और जिन ऋचाओं व मन्त्रों में इन प्राणों का वर्णन आता है, उन ऋचाओं को भी वालखिल्य कह देते हैं।

अब विचारणीय यह है कि इन प्राणों का वालखिल्य नाम क्यों पड़ा ? वालखिल्य शब्द की व्युत्पत्ति जो ब्राह्मण ग्रन्थों में दी गई है, इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि शरीर में प्राणों की स्थिति के कारण इनको वालखिल्य नाम दे दिया गया है। इन प्राणों को वालखिल्य नाम देने से शरीर में इनकी किसी विशेष स्थिति की ओर सकेत प्रतीत होता है। प्राणों की वह स्थिति क्या है ? इस सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण ८।३।४।१ तथा शांखायन ब्राह्मण ३०।८ में स्पष्ट किया गया है कि—

प्राणा वालखिल्या अनन्तर्हिता उ हेमे प्राणास्तदाहुः कस्माद् वालखिल्या इति यद्वा उर्वरयोरसम्भिन्नं भवति खिलमिति वै तदाचक्षते वालमात्रा उ हेमे प्राणा असम्भिन्नास्तद् य असम्भिन्नास्तस्माद् वालखिल्याः।

अर्थात् प्राण ही वालखिल्य कहलाते हैं। ये प्राण

व्यवधान रहित हैं अर्थात् इनके बीच में कोई व्यवधान नहीं है। अथवा यह कहा जा सकता है कि दो उर्वराओं अर्थात् वेदियों का जिस स्थान पर मेल होता है वह खिल कहलाता है। दो वेदियों का वह मेल (खिल) बाल बराबर मोटा होता है। क्योंकि इस बाल बराबर मेल से ये प्राण अपान और व्यान आदि परस्पर मिले हुए हैं। अतः इनका नाम वालखिल्य है। अथवा बाल शब्द का बाल अर्थ न करके 'वृञ् वरणे' धातु से इसको बनाया जा सकता है। जिसका यह अर्थ होगा व्यवधानमात्र (वारं = वालं)। यह व्यवधान आवश्यक नहीं कि बाल बराबर ही हो। इससे यह स्पष्ट है कि इन तीनों प्राणों के क्षेत्रों की जो सन्धि है, उसे हम चाहे दीवार कहें, व्यवधान कहें, वह होती अवश्य है, और यह आवश्यक नहीं कि वह बाल बराबर मोटी हो।

लौकिक भाषा में उर्वरा वे क्षेत्र कहलाते हैं जहां की अन्नादि की उत्पत्ति होती हैं। परन्तु शरीर में ये उर्वरा नामक क्षेत्र प्राण अपान और व्यान के हैं। ये तीनों प्राण अपने २ क्षेत्र में रहते हुए शरीर के लिये उपयोगी अन्न पैदा करते रहते हैं। इन प्राणापान आदि के क्षेत्रों को पृथक् २ करने के लिये एक दीवार है जो कि बाल के समान सूक्ष्म है और इसे खिल कहते हैं। इस लिये यह कहा जा सकता है कि प्राण अपान और व्यान का वालखिल्य नाम इस वाल नामक दीवार के कारण पड़ा है। उर्वरा को वेदी कहते हैं। (ता०ब्रा०१६।१३।)

इस आधार पर शरीर को वेदियों में विभक्त करने पर एक प्राण की वेदि, दूसरी अपान की वेदि और तीसरी व्यान की वेदि कही जा सकती है। इस प्रकार ये प्राण वेदियां खिल नामक दीवार से आपस में मिली हुई हैं।

अब विचारणीय यह है कि इन प्राणों के वे क्षेत्र कौन से हैं ? और किस प्रकार ये खिल नामक दीवार से मिले हुए हैं ?

शरीर में प्राण अपान और व्यान इनके क्षेत्र पृथक् २ बताये गये हैं। प्रश्नोपनिषत् के ३य प्रश्न में इनके क्षेत्रों के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि—

पायूपस्थेऽपान चक्षु श्रोत्रे मुखनासिकाभ्याम् प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते। ३। ५

अर्थात् पायु और उपस्थ में अपान वायु रहती है और मुखनासिका सहित चक्षु और श्रोत्र में प्राण स्वयं रहता है।

व्यान के सम्बन्ध में आगे कहा गया है कि—

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतंशतमेकैकस्यां द्वा सप्तति र्द्वा सप्ततिः प्रतिशाखानाडी-सहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति। प्रश्न ३। ६

अर्थात हृदय में यह आत्मा निवास करता है। इस हृदय में १०१ नाड़ियां मुख्य हैं। इन १०१ में प्रत्येक से सौ२

(१००) नाड़ियां निकलती हैं। और फिर इन सौ (१००) में प्रत्येक से ७२ हजार ७२ हजार नाड़ियां और निकलती हैं। इन सब नाड़ियों में व्यान का सञ्चार होता है। इस प्रकार संक्षेप में यदि कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि प्राण का मुख्य का केन्द्र सिर है, अपान का गुदा तथा उपस्थ है और व्यान का हृदय है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि ये इनके मुख्य केन्द्र हैं। वैसे ये तीनों प्राण शरीर में सर्वत्र विचरते हैं। क्योंकि शरीर में मुख नासिका आदि केन्द्रों में रहती हुई प्राण वायु द्वारा प्राणन क्रिया शरीर में सर्वत्र हो रही है। इस लिये यह कह सकते हैं कि प्राण शरीर में सर्वत्र विद्यमान है। इसी प्रकार गुदा और उपस्थ अपान का मुख्य केन्द्र है। परन्तु नाक, कान तथा चक्षु आदि से भी मल बाहिर निकलता है और फिर पसीने द्वारा तो शरीर में सर्वत्र ही मल निकलता रहता है। इस लिये यह कह सकते हैं कि शरीर में अपान भी सर्वत्र है। इसी प्रकार व्यान का मुख्य स्थान हृदय है, परन्तु इन हजारों नाड़ियों द्वारा शरीर में यह व्यान वायु सर्वत्र विचरती है। इस लिये हम यह कह सकते हैं कि प्राण अपान और व्यान शरीर में सर्वत्र विद्यमान हैं। अब प्रश्न यह होता है कि शरीर में जब ये तीनों सर्वत्र विद्यमान हैं तो आपस में इनकी स्थिति क्या है? अर्थात् खिल नामक दीवार से आपस में ये किस प्रकार मिले हुये हैं? इस सम्बन्ध में

काठक संहिता २७। २ तथा तै० सं० ६।४।६ में इस प्रकार कहा है कि—

व्यानेन वा इमौ प्राणापानौ विधृतौ प्राङ् च प्रत्यङ् च न क्षीयते नायमूर्ध्व उत्क्रामति नेतरोऽवाङ् संक्रामति व्यानमेव मध्यतो दधाति प्राणापानयो र्विधृत्यै। काठक संहिता २७। २

अर्थात् व्यान द्वारा धारण किये हुये ये प्राण और अपान आगे पीछे की ओर क्षीण नहीं होते। अर्थात् अपान अपने क्षेत्र को छोड़ कर प्राण की ओर ऊपर को संक्रमण नहीं करता और इसी प्रकार प्राण नीचे की ओर अपान की तरफ संक्रमण नहीं करता। क्योंकि बीच में इन दोनों को व्यान ने धारण किया हुआ है।

इसी उपर्युक्त भाव को छान्दोग्योपनिषत् १।३।३ में इस प्रकार कहा गया है कि—

'अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः'

अर्थात् जो प्राण और अपान की सन्धि है वह व्यान है। इस प्रकार इन तीनों प्राणों के क्षेत्र या वेदियां (उर्वरा) पृथक् २ हैं। इन तीनों के क्षेत्र को जो दिवार मिलाए हुए है वह 'खिल' कहलाती है। इस लिये इन प्राणों का इस खिल नामक दीवार के कारण वालखिल्य नाम पड़ा। परन्तु यह बात

अवश्य याद रखनी चाहिये कि शरीर में इन प्राणों की जो सर्वत्र पृथक् २ स्थिति व पृथक् २ क्षेत्र बताये गये हैं, इसका यह मतलब नहीं कि इनके पृथक् २ क्षेत्र आंखों से प्रत्यक्ष दिखाये जा सकते हैं। और फिर प्राणों के बीच में 'खिल' नामक व्यवधान को जो वालमात्र अर्थात् बाल बराबर कहा गया है, इसका भी यह मतलब नहीं कि यह अवश्य ही बाल बराबर मोटा हो। बाल बराबर कहने का भाव इतना ही है कि इन तीनों के क्षेत्रों में कुछ भेद अवश्य है। क्योंकि ये तीनों प्राण एक ही स्थान पर कार्य करते हैं इस लिये इतना अवश्य होता है कि जिस स्थान पर निर्माण (Construction) हो रहा होता है, उसी स्थान पर विनाश (Destruction) नहीं होता। चाहे इन निर्माण व विनाश दोनों के स्थानों में बहुत सूक्ष्म भेद हो—भेद होता अवश्य है। इस भेद को बालमात्र कह देना तो भेद समझाने के लिये है। अथवा जैसा हम पहले लिख चुके हैं कि वाल शब्द का बाल अर्थ न करके 'वृञ वरणे' धातु से इसको बनाया जा सकता है। जिसका यह अर्थ होगा व्यवधान मात्र। इससे यह स्पष्ट है कि इन तीनों प्राणों के क्षेत्रों की जो सन्धि हैं, उसे हम चाहे दीवार कहें, व्यवधान कहें, वह होती अवश्य है, और यह आवश्यक नहीं कि वह बाल बराबर मोटी हो। अब विचारणीय यह है कि प्राण अपान और व्यान की जो सन्धि 'खिल' बताई गई है, इस सन्धि के आधार पर इन

प्राणों को क्यों सम्बोधित किया गया है ? इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि प्राणों की इस सन्धि का वलासुर के हनन में बहुत महत्व है। इसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि एक मशीन में तीन पुर्जे इस प्रकार लगे हुए हैं कि बीच के पुर्जे के गतिमान् होने पर इधर उधर के पुर्जे भी गतिमय हो जाते हैं, और प्रकार मशीन चालू हो जाती है। इसी प्रकार हमें इन प्राणों को समझना चाहिये। प्राण और अपान के मध्य में व्यान रहता है। व्यान में चेष्टा है क्रिया है। यह व्यान वायु प्राण और अपान को गतिमय करती रहती है। और इस प्रकार शरीर रूपी मशीन चालू रहती है। इस लिये शरीर में व्यान वायु गति व चेष्टा का कारण है। त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषत् में कहा भी है कि—

'प्राणापानादि चेष्टादि क्रियते व्यानवायुना' ८४ श्लोक

अर्थात् प्राण अपान आदि में चेष्टाएं व्यान वायु द्वारा पैदा की जाती हैं।

जिस प्रकार मशीन में तीनों पुर्जों की सन्धियां ठीक न हों तो होगा यह कि तीनों पुर्जे नहीं चल सकते और यदि चलें तो बहुत मन्द व रुक रुक कर चलेंगे। इस प्रकार मशीन ठीक नहीं चलेगी। इसी प्रकार प्राण अपान, और व्यान की सन्धियां यदि ठीक नहीं हैं तो ये प्राण और अपान ठीक कार्य नहीं कर सकते। क्योंकि प्राण और अपान में गति व्यान से

ही आती है और इनकी सन्धियां ठीक न होने से वह गति प्राण और अपान को पूरी तरह नहीं मिल सकती। इस प्रकार प्राण और अपान पूरी तरह कार्य नहीं कर सकते। इसी लिये इन तीनों प्राणों की सन्धिओं का ठीक होना अत्यन्त आवश्यक है। वलासुर के हनन में सन्धिओं का महत्व इस लिये है कि वल भी एक प्रकार का सूक्ष्म मल है। यदि वे तीनों प्राण ठीक कार्य करते हों और अध्यात्म दृष्टि से इनकी शक्ति को खूब बढ़ाया जाय तो शरीर में सूक्ष्म से सूक्ष्म मल भी बचा नहीं रह सकता। इसी दृष्टि से प्राण अपान और व्यान इन तीनों में किस प्रकार की सन्धियां होनी चाहिये इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है। प्राण और अपान के साथ व्यान की सन्धि व संसर्ग को इतना महत्व दिया है कि यदि यह सन्धि किसी प्रकार न रहे तो मनुष्य की मृत्यु तक हो जाती है।

इसी बात को तैत्तिरीय संहिता ६।४।६।४ इस प्रकार दिखाया है कि—

यं कामयेत प्रमायुकः स्यादित्यसंस्पृष्टौ तस्य सादयेद् व्यानेनैवास्य प्राणापानौ विच्छिनत्ति ताजक् प्रमीयते। यं कामयेन सर्वमायुरियादिति संस्पृष्टौ तस्य सादयेद व्यानेनैवास्य प्राणापानौ संतनोति सर्वमायुरेति॥तै०सं०६ ४।६।४

अर्थात् जिसके सम्बन्ध में यह चाहे कि यह मर जाये तो वह यह करे कि उसके प्राण और अपान को व्यान से

असंस्पृष्ट अर्थात् अछूता करदे। इस प्रकार करने से प्राण और अपान का सम्बन्ध व्यान से कट जाता है और वह आदमी उसी समय मर जाता है। और जिसको यह चाहे कि यह सम्पूर्ण आयु भोगे तो वह यह करे कि उसके प्राण और अपान को व्यान से मिलादे। इस प्रकार करने से उसके प्राण और अपान बढ़ते हैं और वह चिरकाल तक स्वस्थ रहता हुआ पूर्ण आयु को भोगता है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि प्राण अपान और व्यान का नाम वालखिल्य है। इन प्राणों का खिल नामक सन्धि के कारण ही वालखिल्य नाम पड़ा। इनकी सन्धियों के ठीक होने से ही प्राण और अपान सूचारु रूप से कार्य करते हैं। और इनके ठीक २ कार्य करने से शरीर का सब प्रकार का मल विनष्ट होता है। और इनकी सन्धिओं के ठीक २ ज्ञान हो जाने पर किसी विशेष स्थान पर इनके सम्बन्ध को तीव्रतम बना कर उस स्थान के सूक्ष्म से सूक्ष्म मल को विनष्ट किया जा सकता है। और इस प्रकार बल रूपी मल का भी विनाश हो सकता है। इस लिये वालखिल्य नामक प्राणों की सन्धिओं को तथा उसकी प्रक्रिया को जानने की अत्यन्त आवश्यकता है।

एक पदा वाचः कूट—

(एक स्थान पर पड़ने वाला वाणी का वज्र)

वालखिल्य अर्थात प्राण, अपान और व्यान सम्बन्धी

सूक्ष्मता को जान लेने पर मनुष्य में यह शक्ति पैदा हो जाती है कि व्यान द्वारा प्राणापान को प्रमुख रूप से गति देकर अभीष्ट स्थान के मैल को धोसके और वहां श्रेष्ठ प्राणों का निर्माण कर सके। प्राणापान की इस क्रिया को तीव्रतम बनाने के लिये अथवा उनकी सहायता के लिये एक साधन यह भी है कि वाणी रूपी वज्र का उस आवरण पर प्रहार भी होता रहे। इस से आवरण की सख्ती जाती रहेगी और वह चूर २ हो जायेगा। परन्तु हमें इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि वाणी रूपी वज्र का प्रहार निरन्तर एक स्थान पर पड़ता रहे। यहां पर वालखिल्य ऋचा का एकपदा नाम दो भावों को दर्शा रहा है। एक तो वालखिल्य ऋचा का पदविभाग करके एक २ पद का ध्यान के समय उच्चारण किया जाता है दूसरा वह ऋचा का प्रहार शरीर में जहां मन को केन्द्रित किया है उसी स्थान पर पड़ता है। इस लिये हमें ध्यान के समय सदा इस बात का ख्याल रखना चाहिये कि ऋचा ओ३म् तथा भगवान् के किसी भी नाम का प्रहार एक स्थान पर पड़े।

इस वृत्रासुर के प्रकरण में वालखिल्य ऋचाओं का क्या २ प्रयोजन व कार्य है। उनका पद विभाग आधी ऋचा का विभाग तथा पूरी ऋचा इस प्रकार तीन विभाग करना और उनका फिर परस्पर मेल करना इत्यादि बहुतसी बातें हैं जिनका विस्तार[illegible] होना चाहिये। और फिर उन

करने हैं और
ल करना है ?
की आवश्य-
। परस्पर मेल
है—

ानि विहरति
क्षुश्च तन्मनश्च
विहरति।
ब्रा० ६।२।२४

रस्पर मिलाना
ाता है। दूसरे
। और तीसरे
ा है।
ड रूपी नाटक
ा भी संकेत
कर्मकाण्ड भी

अन्ततो गत्वा अध्यात्म का ही बाह्य रूप है। ऐ० ब्रा० के इस वलासुर सम्बन्धी कथादि की कुछ परिभाषाओं का हमने स्पष्टीकरण किया। अवशिष्ट परिभाषाओं का वर्णन हम फिर कभी आपके समक्ष रक्खेंगे।

...व्यान ...
इत...

विभागों के आधार पर शरीर में कौनसे विभाग करने हैं और किन २ का परस्पर मेल करना है, और क्यों मेल करना है ? इत्यादि बातों पर बहुत विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। ब्राह्मण ग्रन्थ में शरीर में किन २ का परस्पर मेल करना इसका संकेत किया है। वह इस प्रकार है—

स यत्प्रथमं षड् वालखिल्यानां सूक्तानि विहरति प्राणं च तद्वाचं च विहरति। यद् द्वितीयं चक्षुश्च तन्मनश्च विहरति। यत् तृतीयं श्रोत्रं च तदात्मानं च विहरति।

ऐ० ब्रा० ६।२।२४

अर्थात् प्रथम ६ वालखिल्य सूक्तों को परस्पर मिलाना एक प्रकार से प्राण और वाणी को परस्पर मिलाता है। दूसरे नम्बर पर चक्षु और मन को परस्पर मिलाता है। और तीसरे नम्बर पर श्रोत्र और आत्मा को परस्पर मिलाता है।

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ बाह्यकर्मकाण्ड रूपी नाटक के साथ आन्तरिक शरीर में होने वाले यज्ञों का भी संकेत करते हैं। इस लिये हम यह कह सकते हैं कि कर्मकाण्ड भी अन्ततो गत्वा अध्यात्म का ही बाह्य रूप है। ऐ० ब्रा० के इस वलासुर सम्बन्धी कथादि की कुछ परिभाषाओं का हमने स्पष्टीकरण किया। अवशिष्ट परिभाषाओं का वर्णन हम फिर कभी आपके समक्ष रक्खेंगे

[illegible]व्यान ९

इत[illegible]

वरुण की नौका--लेखक श्री प्रियव्रत, आचार्य गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय। कर्मफल, पुण्य,पाप, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की इस पुस्तक में मीमांसा है। राजा वरुण प्रभु की आंखें सब जगह पर हैं। कर्मफल विज्ञान के जिज्ञासुओं के लिये यह पुस्तक एक वरदान है। लेखक ने अत्यन्त सरल भाषा में सच्चे सुख का सच्चा उपाय इसमें बताया है। प्रभु की कृपा किस पर होती है और कैसे कर्म करके हम प्रभु के प्यारे हो सकते हैं इत्यादि विषय पुस्तक में दार्शनिक गहराइयों के साथ सरल रूप में वर्णित हैं। मूल्य प्रथम भाग ३), द्वितीय भाग ३)

अथर्ववेदीय मन्त्रविद्या-- लेखक पं० प्रियरत्न आर्ष। 'अथर्ववेद' में जादू टोने, तन्त्रमन्त्र, झाड़फूंक का विधान है' ऐसा बहुत से विद्वानों का मत है। प्रस्तुत पुस्तक में आयुर्वेद व अन्य वैज्ञानिक साधनों द्वारा सिद्ध किया है कि वस्तुतः जिन मन्त्रों को जादू टोना, तन्त्रमन्त्र आदि से सम्बद्ध किया जाता है वे सम्मोहनविद्या व चिकित्साशास्त्र के द्योतक हैं। मूल्य १।)

वैदिक ब्रह्मचर्यगीत-- लेखक श्री अभय विद्यालङ्कार। वेद में ब्रह्मचर्य की महिमा क्या बताई गई है, ब्रह्म... कौन होता है और ब्रह्मचारी में कितनी महान शक्ति ... इसका वर्णन आपको इस पुस्तक में मिलेगा। इस में ... ब्रह्मचर्य सूक्त का एक-एक मन्त्र लेकर उसकी ... की गई है और अन्त में शब्दार्थ दे दिया गया ... को ऊंचा और सुखी बनाना चाहने वा... अपने बच्चों के हाथ में इसकी एक ...

मिल... का...
...शन मन्दिर, गुरुकुल कां...

ब्राह्मण की गौ— लेखक श्री अभय विद्यालङ्कार
सच्चे ब्राह्मण की वाणी में क्या जादू भरी शक्ति होती है, वह इस पुस्तक में पाठक देखेंगे। एक महाबली राजा के मुकाबले में एक गरीब ब्राह्मण की वाणी को दिखाया गया है, जिसमें कि अन्त में इस ब्राह्मण की वाणी की ही अनायास विजय होती है। महात्मा गांधी ने 'ब्राह्मण की गौ' को प्रारम्भ से अन्त तक पढ़ कर इसकी बड़ी प्रशंसा की है। वेद के पवित्र उपदेशों की यह स्वाध्यायपुस्तक (अथर्ववेद के ब्रह्मगव सूक्त की व्याख्या) प्रत्येक सज्जन को अवश्य पढ़नी चाहिये। मूल्य ॥|)

संध्या रहस्य (दूसरा संस्करण) लेखक प्रोफ़ेसर विश्वनाथ विद्यालंकार। उपासना का प्रत्येक धर्म में विशेष महत्व है। सृष्टि की सबसे प्राचीन और सबसे नवीन वेदोक्त उपासना का आनन्द निराला ही है। यदि आप सन्ध्या के गूढ़ रहस्य को हृदयंगम करके इस अनिर्वचनीय आनन्द का आस्वादन करना चाहते हैं तो इस पुस्तक को अवश्य पढ़िये। मूल्य २)

योगेश्वर कृष्ण (दूसरा संस्करण)— मूल्य ४)। बढ़िया चिकने कागज पर छपी छपा है। श्री कृष्ण के प्रसिद्ध जीवन चरित्रों में यह सब से प्रामाणिक जीवन-चरित्र है। अमर जीवन के दिव्यसंदेश को सुनाने वाले इस महान् पुरुष की जीवनी से मानव-समाज को सदा उद्बोधन मिलता रहा है। आप भी आज ही मंगा कर पढ़िये। लेखक–श्री चमूपति एम. ए.।

मिलने का पता—

प्रकाशन मन्दिर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।